हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
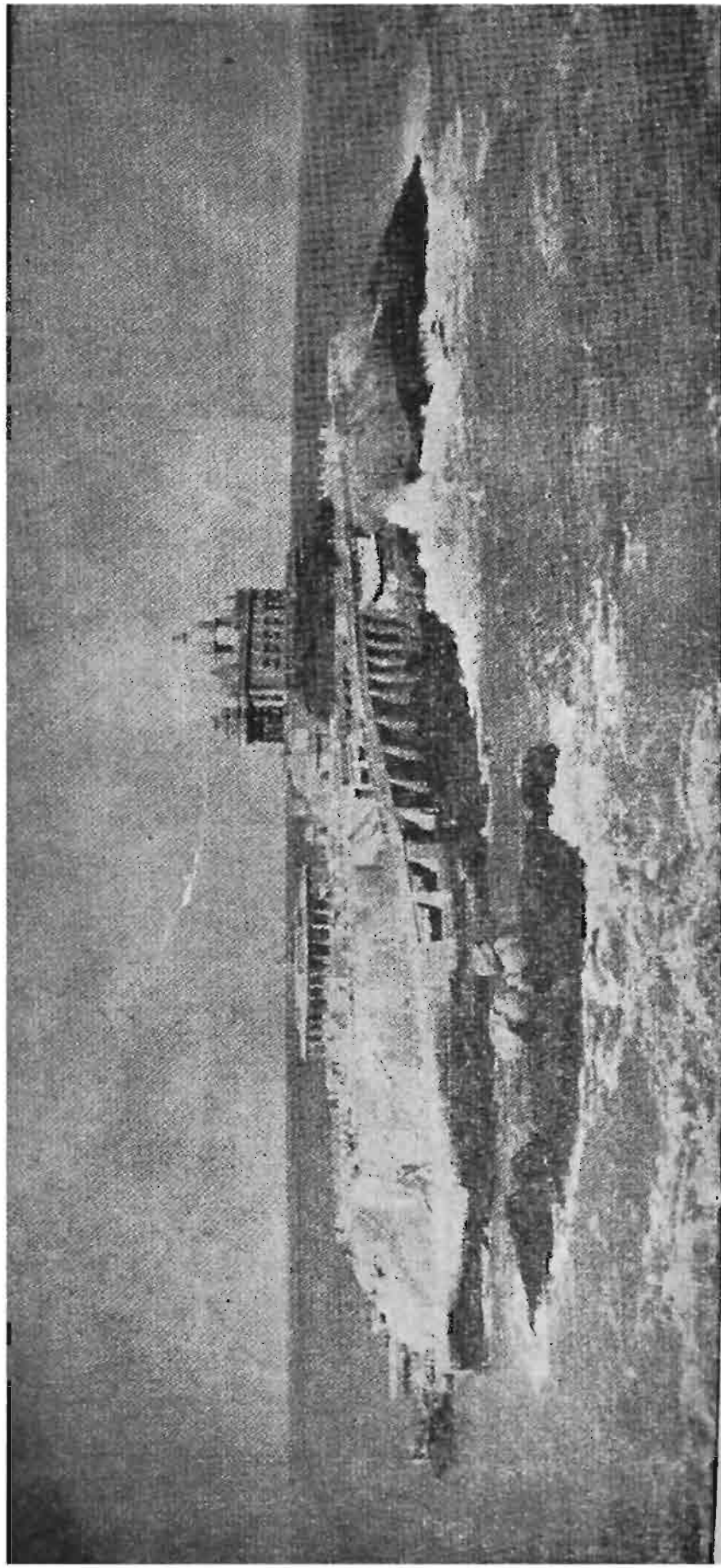
कन्याकुमारी में सागर-तट से लगभग २ फर्लांग दूर तीन महासागरों के मिलन-स्थल पर बना विवेकानन्द शिला स्मारक।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७० ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● स्वामी प्रणवानन्द

सह-सम्पादक ● सन्तोषकुमार झा

वार्षिक ४)　　वर्ष ८
अंक ४　　एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(अमेरिका में सन् १८९५)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर २.

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११ वीं तालिका)

४८६. श्री कस्तूरचन्द पुरोहित, पुरोहित लाज, दुर्ग ।
४८७. श्री हेमन्तकुमार कक्कड़, केसिंगा, (कालाहांडी)।
४८८. श्री रसिकबिहारी अग्रवाल, पुरानी बस्ती, रायपुर।
४८९. श्रीमती राजेश्वरीदेवी त्रिवेदी, रायपुर ।
४९०. प्राचार्य, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर ।
४९१. श्रीमती ज्ञानदादेवी, सक्ती हाउस, छिंदवाड़ा ।
४९२. डा. वी. सी. मानकोड़ी, भिलाई ।
४९३. श्री ज्ञानचन्द अग्रवाल, कान्ट्रेक्टर, सुपेला, भिलाई।
४९४. श्री वी. पी. गुप्ता, कान्ट्रेक्टर, सुपेला, भिलाई ।
४९५. श्री हरिकृष्ण मलिक, मोतीलाल नेहरूनगर, दुर्ग ।
४९६. सेठ बालकिसन, मोतीलाल नेहरूनगर, दुर्ग ।
४९७. श्री गजानन दीक्षित, वि. शि. कला मंदिर, सिवनी ।
४९८. श्री प्रमोद जगन्नाथ बर्वे, कुर्मी वार्ड, सिवनी ।
४९९. श्री संदीप खंगन, द्वारा-श्री के डब्लु. खंगन, एजेन्ट, स्टेट बैंक आफ इण्डिया, सिवनी ।
५००. श्री किसनलाल अग्रवाल, नेहरू रोड, सिवनी ।
५०१. रायगढ़ को-आपरेटिव सेन्ट्रल बैंक लि., रायगढ ।
५०२. श्री ए. एल. अनन्तराम, एक्जी० इंजीनियर, दुर्ग ।
५०३. श्री डी. पी. पाण्डे, एक्जीक्यूटिव इंजीनियर, दुर्ग ।
५०४. श्री योगेशकुमार साहू, जिला वन अधिकारी, दुर्ग ।
५०५. श्री सुरेन्द्र विक्रम सिंह, अधीक्षक जिला पुलिस, दुर्ग ।
५०६. श्री अमर चन्द बैद, सदर बाजार, रायपुर ।

ग्राहकों को विशेष सूचना

१ – 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है, वे अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, पो. विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.) के पते पर भेज दें।

२ – यदि चन्दा हमें १५ दिसम्बर, १९७० तक नहीं प्राप्त होगा, तो 'विवेक-ज्योति' के नवम वर्ष का प्रथम अंक सम्बन्धित व्यक्तियों को वी. पी. से भेज दिया जायेगा। वी. पी. ५)१५ की होगी। अनुरोध है कि वी. पी. कृपा करके छुड़ा ली जाय, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ की हानि सहनी पड़ जायेगी।

३ – **जिन्हें अब ग्राहक नहीं रहना है वे कृपया शीघ्र हमें सूचित कर दें जिससे हम व्यर्थ वी पी. न भेजें।**

४ – ग्राहकों की सुविधा के लिए हम इस अंक के साथ एक व्यापारिक जवाबी कार्ड संलग्न कर रहे हैं। इस कार्ड में तीन सूचनाएँ हैं। जो भी सूचना ग्राहक के अनुकूल हो, उस खाने में [√] ऐसा चिह्न लगाकर, **बिना टिकट लगाये** यह कार्ड हमें भेज दें।

५ – **पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।**

व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ८] अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७० ★ एक प्रति का १)

नान्यः पन्थाः

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
  आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
  आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
  नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—अहो दिव्य लोकों में निवास करनेवाले अमृत-पुत्रो ! सुनो। मैं इस ज्योतिःस्वरूप महान् पुरुष को जानता हूँ जो समस्त अज्ञान-अन्धकार के उस पार है। केवल उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को पार करता है। इसके सिवा परमपद-प्राप्ति का और कोई मार्ग नहीं है।

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, २।५, ३।८

आत्मज्ञानी मौन

एक पिता के दो लड़के थे। पिता ने दोनों को ब्रह्म-विद्या सीखने के लिए गुरु के पास भेजा। दोनों लड़के गुरुकुल में गुरु की सेवा करते हुए विद्याभ्यास करने लगे। वर्षों तक वहाँ रहने के बाद जब उनका पाठ समाप्त हुआ तो गुरु ने आशीर्वाद देकर उन्हें विदा दी। पुत्रों ने घर लौटकर पिता को प्रणाम किया। पिता लम्बी अवधि के बाद पुत्रों को पाकर अतीव प्रसन्न हुए और उनका कुशल-क्षेम पूछा तथा गुरुकुल के समाचार पूछे। कुछ दिन उपरान्त पिता ने विचार किया कि पुत्रों का ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञान जाना जाय। उन्होंने बड़े पुत्र से पूछा, "बेटा ! तुमने तो सभी शास्त्रों को पढ़ा है, जरा बताओ तो सही कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?" पुत्र उपनिषद्, गीता, महाभारत एवं अन्य ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने लगा। उसने उत्तर देते हुए अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता का प्रदर्शन किया। पर पिता चुप रहे, कुछ न बोले। जब बड़े ने अपना वक्तव्य समाप्त किया तो उन्होंने छोटे पुत्र से वही प्रश्न पूछते हुए कहा, "अब बेटा ! तुम बताओ कि तुम ब्रह्म के सम्बन्ध में क्या जानते हो ?" छोटा मौन रहा। पिता ने पुनः छोटे को सम्बन्धित करते हुए कहा, "अरे, मैं तुम्हीं से पूछ रहा हूँ। अब तुम बोलो।" फिर

भी छोटा पुत्र मौन ही रहा और उसने अपनी दृष्टि नीचे की ओर झुका ली। पिता उससे बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "बेटा, वास्तव में तुम्हीं ने ब्रह्म को कुछ-कुछ समझा है। वह क्या है उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।"

श्रीरामकृष्ण यह चुटकुला सुनाकर कहते हैं कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। उसे भला वाणी में कौन बाँध सकता है? जो मन और वाणी से अगोचर है, श्रुतियाँ 'नेति नेति' करके जिसका परिचय देती हैं, उसे कौन शब्दों के ढाँचे में ढाल सकता है? संसार की सारी चीजें जूठी हो गयीं, वेद-वेदान्तादि सारे शास्त्र जूठे हो गये, पर एकमात्र ब्रह्म जूठा नहीं हुआ, क्योंकि कोई उसे जीभ से न छू सका अर्थात् न बता सका कि ब्रह्म कैसा है। वास्तव में ब्रह्म का स्वरूप मौन है। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति—ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है, इसलिए वह भी मौन हो जाता है।

●

सच्चिदानन्द ब्रह्म कैसा है, जानते हो? जैसे, अनन्त सागर। ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब ओर जल ही जल। जल-स्थिर जल-है कारण। तरंगें हैं कार्य। सृष्टि-स्थिति-प्रलय—यह कार्य है। विचार जहाँ जाकर रुक जाता है वही ब्रह्म है। जैसे, कपूर को जलाओ तो वह जाता है, थोड़ीसी राख भी नहीं बचती।

—श्रीरामकृष्ण

अपने मन के स्वामी बनो

स्वामी पवित्रानन्द

(स्वामी पवित्रानन्दजी रामकृष्ण मठ और मिशन के न्यूयार्क स्थित वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष हैं। प्रस्तुत लेख में उन्होंने मन की चंचलता पर विजय पाने के उपायों पर प्रकाश डाला है। यह लेख 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' के नवम्बर-दिसम्बर १९६७ अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से यह अनूदित और साभार गृहीत है।–सं.)

हम जानते हैं कि हमारे सब दुःखों का आरम्भ मन में होता है। मन तुम्हारा मित्र है और शत्रु भी। वश में किया हुआ मन तुम्हारा मित्र है। और जब यह मन तुम्हें वश में कर लेता है तब तुम्हारा शत्रु है। जिन व्यक्तियों का मन पर संयम है उन्हें शान्ति प्राप्त है। वे वस्तुतः सुखी हैं।

एक बार स्वामी विवेकानन्द एक साधु से मिले जो चालीस वर्षों तक विभिन्न तीर्थस्थानों में भ्रमण कर चुके थे। स्वामीजी ने उनसे पूछा, "आप एक स्थान पर स्थिर होकर कठोर साधना क्यों नहीं करते?" साधु स्पष्टवक्ता थे। उन्होंने कहा, "मेरा मन मुझे स्थिर नहीं होने देता।" जरा विचार करो! चालीस वर्षों तक उन्होंने भ्रमण किया––पर किसलिये? यद्यपि उन्होंने सब कुछ त्यागा था तथापि उनका मन उन्हें स्थिर नहीं होने देता था। वे ध्यान भजन करना चाहते थे, अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास करना चाहते थे,

परन्तु वे अपने मन की निर्दयता का शिकार हो चुके थे ।

एक और महात्मा एक ही स्थान पर गंगा के किनारे चालीस वर्षों तक रहे । वे अन्यत्र कहीं भी नहीं गये, परन्तु फिर भी शान्त एवं सुखी थे । दोनों में भेद वस्तुतः इतना ही है कि इन दूसरे का अपने मन पर संयम था और पहले का नहीं । साधुओं में भी इस प्रकार हो जाता है । यदि हम सावधानी से अपना विश्लेषण करें तो देखेंगे कि मन ही हमारे सब दुःखों का उद्गम-स्थान है । भ्रमवश हम दूसरों पर दोष लगाते हैं । हम दूसरों को इसलिये दोषी ठहराते हैं कि हमें यथार्थ सत्य नहीं मालूम । दूसरों पर दोष मढ़ना सहज है । चूंकि तुम कोमल-हृदय हो इसलिये सोचते हो कि अमुक व्यक्ति ने तुम्हें दुःख दिया है । यदि तुम भीतर से दृढ़ होते तो इन सब दुःखों को तुच्छ समझते। तनिक विचार करो ! क्या यह विचित्र नहीं है कि तुम्हारी सुख-शान्ति इस पर निर्भर करे कि कोई व्यक्ति तुम्हारे सम्बन्ध में क्या कहता है अथवा कोई व्यक्ति तुमसे कैसा व्यवहार करता है ! ऐसा क्यों नहीं कहते कि "मैं अकेला ही दोषी हूँ !" अपनी रक्षा अपने आप क्यों नहीं करते ? सारे दुःखों का आरम्भ तब होता है जब दो होते हैं--मैं और मुझसे भिन्न दूसरे। तुम दूसरों पर तो नहीं पर हाँ, अपने ऊपर नियंत्रण अवश्य कर सकते हो ।

किसी भी कष्ट में उपर्युक्त दोनों में से प्रत्येक पक्ष आंशिक रूप से उत्तरदायी है। ऐसा भी हो सकता है कि कभी तुम्हारा दोष दूसरे से अधिक हो; तब दूसरे के दोष को भूलकर केवल अपने दोष की ही चिन्ता क्यों नहीं करते? पर साधारण मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते। कुछ व्यक्ति कुछ अनुभवों के द्वारा अपने मन को थोड़ा वश में कर भी लें, तब भी सम्पूर्ण समस्या का समाधान नहीं होता। अन्त में हम इसी प्रश्न पर पहुँचते हैं कि यह मन क्या है और यह किस प्रकार से कार्य करता है? यदि तुम मनोविज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन करो तो देखोगे कि "मन क्या है, कैसे कार्य करता है, चेतना क्या है" इस सम्बन्ध में वे भी स्पष्ट मत देने में असमर्थं हैं। कुछ ग्रन्थ कहेंगे कि मन अति सूक्ष्म पदार्थ-जैसा है जो मस्तिष्क के सेलों (cells) में अंकित घटनाओं को प्रकाशित करता है। पर यह कोई वास्तविक समाधान नहीं है। कुछ दूसरे ग्रन्थ अधिक ईमानदारी से यह विचारपूर्ण बात कहेंगे कि यद्यपि हम इच्छा, विचार और अनुभव को तो देखते हैं, किन्तु हम उसको नहीं देखते जो इच्छा, विचार और अनुभव करता है। वह कौन है जो वस्तुत: अनुभव करता है और इच्छा करता है? हम नहीं जानते कि चेतना क्या है---और फिर भी हम चेतन हैं।

श्रेष्ठ मनोविश्लेषज्ञ डा० युंग कहते हैं, "मन का एक अंश देश और काल से अतीत है जिसे हम नहीं जानते। वह वस्तु जो देश और काल से परे है उसे हम नहीं जान

सकते। यदि वह देश और काल से परे है तो वह कार्य-कारण (निमित्त) से भी परे होगी।" अतः वे स्वीकार करते हैं कि कोई ऐसी वस्तु है जिसे हम नहीं जानते। और यही कठिनाई है; पर संकेत भी यही है। युंग स्वयं कहते हैं, "उम्र बढ़ने के साथ साथ मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे अपने बारे में बहुत अल्प ही मालूम है।"

अतः हम अपने बारे में अधिक नहीं जानते, क्योंकि जैसा उन्होंने कहा, मन का एक अंश जो देश-काल और निमित्त से परे है, उस तक हम नहीं पहुँच पाते हैं। हम अपने मन को नहीं पढ़ सकते क्योंकि हम स्वयं ही मन के अंश हैं। हम नहीं जानते कि हम कैसे विचार करते हैं। अतः हम मन का पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं कर सकते। तो भी कुछ तथ्य हमारे सामने स्पष्ट रूप से आते हैं।

यदि हम अपने मन पर ध्यान दें और देखें कि यह क्या है तो हम देखते हैं कि यह सदा परिवर्तनशील है। इतना तो सहज ही ज्ञात हो जाता है। उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि हमारा मन किस प्रकार हमें दुःख देता है, पर फिर भी हम देखते हैं कि हमें व्याकुल होने का कोई भी कारण नहीं है। अनेक व्यक्ति दुःखी होते हैं, परन्तु उसका कारण नहीं जानते। एक क्षण में मन सुखी होता है और एक क्षण में दुःखी। कभी अचानक ही हमारा मन अकारण चिड़चिड़ा हो जाता है। क्यों? इसलिए कि हममें संयम नहीं है। यदि हम अपने मन का अध्ययन करें तो हम इसका परिवर्तन देख सकते हैं। इस परिवर्तन

को कौन देखता है ? कोई वस्तु, जो हमारे भीतर ही है । हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हम स्वयं ही अपने मन को देख रहे हैं । हम कहते हैं, "मेरा मन मुझे दुःख देता है, इसलिये मैं मन से पृथक् हूँ ।" और उसी समय हम मन द्वारा दुःखी होने की बात भी कहते हैं । तो भी किसी दिन हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हमारे भीतर मन से अतीत कोई वस्तु है । उसी से एक चेतना आती है जो मस्तिष्क के कोषों के तत्त्वों से पृथक् है । हम मन से भिन्न कुछ हैं । जैसे जैसे हम खोजते हैं, हम पाते हैं कि मन बदलता है, परन्तु एक नहीं बदलता । वह जो अनुभव करता है, विचार करता है एवं सुखी होता है वही एकत्व है ।

आरकिमिडीज ने कहा था कि यदि हम पृथ्वी से परे, पर्याप्त दूरी पर एक स्थान ढूंढ़ सकते तो हम पृथ्वी को ढेंकली से उसी प्रकार उठा या झुका सकते थे जैसे कि एक सेव को । उसी तरह यदि हम मन से परे तथा मन से दूर एक स्थिति ढूंढ़ सकें तो अपने मन को पूर्णतया संयत कर सकते हैं । पर मुश्किल यह है कि हम अपने मन और शरीर से तदाकार हो जाते हैं । दुःखी कौन होता है? हमारा मन, हमारा शरीर या दोनों ? जब हम शारीरिक व्यथा का अनुभव करते हैं तब व्यथा शरीर की होती है । दूसरी ओर, जब हम पअमान या हानि सहते है तब हम व्यथा का अनुभव शरीर में नहीं, मन में करते हैं । जब हम किसी अम्य व्यक्ति के व्यापार में घाटा पड़ जाने की

बात पढ़ते हैं, तब हमें उतना दुःख नहीं होता। किन्तु यदि वह व्यापार हमारा हो तो हमें कठोर आघात पहुँचता है। यह सब इस पर निर्भर करता है कि हम उस दुर्घटना से कितने सम्बन्धित हैं। हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि जब हम मन को इन वस्तुओं के साथ एकाकार कर लेते हैं, तभी दुःखी होते हैं। यदि हम अपने मन को दुःख के विषय से एकाकार न करें तो संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो हमारे दुःख का कारण बने। इसलिये वेदान्त हमें शरीर और मन से एकाकार न होने के लिये कहता है। यदि हम ऐसा कर सकें तो हम अनिर्वचनीय महान् शान्ति का अनुभव करते हैं।

वास्तविक समस्या यह है कि हम उसे कैसे ढूंढ़ें जो मन से भी परे है और कैसे हम अपने को शरीर एवं मन से एकाकार न होने दें। हम जानते हैं कि इन्द्रियाँ और उनके विषय दोनों ही हैं, इनके परे मन है और मन के भी परे आत्मा। आत्मा को जान लेने से हम सुख को जान सकते हैं और इस प्रकार अपने मन को वश में कर सकते हैं। रोचक बात यह है कि मन को वश में करने के लिये हमें मन की आवश्यकता है। मन की अवस्था देश-काल-निमित्त से अतीत अनिर्वचनीय अतिचेतन तत्त्व और स्थूल एवं इन्द्रियगम्य बाह्य संसार के बीच में है। मन में वियोग के अनुभव का कारण क्या है? कारण है वह वस्तु जो देश-काल-निमित्त से परे है, मन से भिन्न है तथा जो किसी भी वस्तु से प्रभावित नहीं है।

मानसिक समस्याओं का समाधान करनेवाली योग-सम्बन्धी पुस्तकें कहती हैं कि मन एक ऐसे सरोवर के समान है जो अपनी सतह पर निरन्तर बहती हुई हवा से चंचल है। इसी प्रकार, बाह्य घटनाओं से प्रभावित होकर हमारे मन की सतह चंचल हो उठती है। अब यदि हम एक ऐसा उपाय ढूंढ़ सकें जिससे सरोवर की सतह अप्रभावित रहे, तो कोई भी लहर उसकी सतह को चलायमान नहीं कर सकेगी। तब मन अत्यन्त शान्त हो जायेगा। ऐसा हम कैसे करें? एक उपाय है ध्यान के द्वारा। ध्यान के द्वारा हम मन को दृढ़ बनाते हैं और उसे बाह्य वस्तुओं से अशान्त नहीं होने देते।

ध्यान क्या है? एक भावना का निरन्तर चिन्तन करना। यदि तुम्हारे पास एक साधारण विचार है तो उसी पर ध्यान करो। इससे भी तुम्हें मन को एकाग्र करने में कुछ योग्यता प्राप्त होगी। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है।

यदि हम देश, काल और निमित्त से परे एक आध्यात्मिक भावना का चिन्तन करें, यदि हम किसी ऐसी वस्तु का चिन्तन करें जो भौतिक नहीं है, सांसारिक नहीं है, तो क्रमशः मन दृढ़ होता चला जाता है। वह बाह्य प्रभावों से अपनी रक्षा करने के योग्य हो जाता है। यही ध्यान का मनोविज्ञान है।

ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में मन सम्भवतः तुम्हें और भी अधिक अशान्त प्रतीत होगा क्योंकि तब तुम उसे वश

में करने का प्रयत्न कर रहे हो। किन्तु यदि तुम ध्यान जारी रखो तो धीरे धीरे वह शान्त हो जायेगा। प्रयत्न के द्वारा तुम मन को शान्त कर सकते हो। सम्भव है मन प्रत्येक दिन शान्त न हो किन्तु यदि पर्याप्त समय तक अभ्यास जारी रहे तो एक सीमा तक मन अवश्य शान्त हो जायेगा और एक दिन तुम देखोगे कि वह तुम्हें शान्ति प्रदान कर रहा है। साधारण व्यक्ति भी यदि ठीक विधि से, नियमित रूप से अभ्यास जारी रखे तो उसे भी इस शान्ति का अनुभव हो सकेगा। मन को अवश्यमेव शान्त किया जा सकता है। सावधानी से मन को शान्त करने का प्रयत्न करने पर हमें प्रकाश की किरण मिल सकती है। प्रश्न केवल तत्परता और समय का है।

इसी उपाय के द्वारा सन्त लोग अपने मन को वश में करते हैं तथा उस प्रशान्ति की अवस्था को प्राप्त करते हैं जो मन से अतीत है एवं बाह्य वस्तुओं से अप्रभावित है। वास्तविक सन्त इस संसार की किसी भी वस्तु से अशान्त नहीं होता। मृत्यु भी उसे दुःखी नहीं कर सकती। वह अपने मन को सहज एवं स्वाभाविक रूप से वश में कर लेता है। उसने यथार्थतः अनुभव कर लिया है कि वह देह नहीं है और मन भी नहीं है। मैंने कम से कम एक सन्त को ऐसा कहते सुना है, "मैंने यह अनुभव कर लिया है कि मैं न तो देह हूँ, न मन ही। भगवान् ने इस देह और मन को अपने यन्त्र के रूप में बनाया है। वे जब तक इन्हें उपयोग में लाना चाहें मुझे कोई चिन्ता नहीं।"

स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है, "मन मेरे लिए मिट्टी के लोंदे के समान है। मैं इसके साथ जो चाहूँ कर सकता हूँ।"

ब्रह्म के विषय में उपनिषद् कहते हैं, "वह साक्षी है। वह सब कुछ देखता है पर हम उसे नहीं देख सकते। वह सब कुछ जानता है पर हम उसे नहीं जानते।" हम उस ढंग से नहीं जानते ; वही हमारे विचारों के पीछे की शक्ति है, किन्तु हम उसको विचारों से नहीं पकड़ सकते। वह नित्य साक्षी है। वह सब कुछ देखता है इसीलिये सबसे भिन्न है। हम नेत्रों से देखते हैं किन्तु नेत्र अपने को नहीं देख सकते। वही नेत्रों की यथार्थ शक्ति है,जो सब कुछ देखती है। भगवान् सब कुछ जानते हैं परन्तु हम उन्हें नहीं देखते; अर्थात् वे सनातन साक्षी हैं। इस संकेत से हमें द्रष्टा और दृश्य के भेद का ज्ञान होता है। पुरुष और प्रकृति एक नहीं हैं, बल्कि अलग अलग हैं। जब हम उन्हें भिन्न भिन्न जान लेते हैं तब शान्ति प्राप्त होती है। यदि कोई तुम्हारा अपमान करे तो अपमान को अपने से पृथक् समझो। ऐसा सोचो कि आत्मा पदार्थ नहीं है कि शब्दों से प्रभावित हो जाये। यदि हम इस प्रकार निरन्तर विश्लेषण करते रहें तो हम दिन पर दिन शान्त होते चले जायेंगे। तब बाह्य उपद्रव हमें प्रभावित न कर सकेंगे। हमें स्वयं से प्रश्न करना होगा, "मैं दूसरों द्वारा अपमानित होने पर अशान्त क्यों होऊँ?" "यह तो केवल शब्द मात्र है। यह तो केवल दूसरे की दुर्बलता मात्र है—अज्ञान

मात्र है।" (और एक अज्ञानी व्यक्ति पर हमें क्रोध नहीं अपितु दया आनी चाहिये। यदि हम इस प्रकार विवेक-विचार करते रहें तो हममें अपने को इन्द्रियग्राह्य जगत् से पृथक् करने की बुद्धि उत्पन्न हो जायेगी कि हम व्यक्ति नहीं हैं, हम प्रकृति नहीं हैं बल्कि हम इनसे पृथक् हैं।

इसके दूसरे उपाय भी हैं। कुछ लोग ईश्वर की उपासना करते हैं अथवा उनके प्रतीकस्वरूप किसी नाम का जाप करते हैं। तब उपर्युक्त भाव मन में समाने लगता है। अन्ततोगत्वा निरन्तर विचार करते रहने से हम इस भाव में प्रतिष्ठित हो जाते हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप बाह्य जगत् से भिन्न है। भगवान् के किसी भी नाम का जाप किया जा सकता है। योग-म्बन्धी ग्रन्थों में ध्यान करने की विधि, ध्यान के लिये आवश्यकताएँ, नैतिक गुण तथा शारीरिक योग्यता आदि के सम्बन्ध में हमें सविस्तार विवरण प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ भी यह कहा गया है कि केवल नाम-जप से भी हमें वही फल प्राप्त होता है।

एक अन्य उपाय भी है। प्रत्येक घटना को ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार कर लो, अथवा जब जैसी परिस्थिति आती है उसे केवल बौद्धिक रूप से ही 'ग्रहण' कर लो। ईश्वर के प्रति थोड़ी भक्ति होने से ऐसा करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। यदि तुम प्रत्येक घटना को ईश्वर की इच्छा मान सको और प्रत्येक परिस्थिति को स्वीकार कर लो, तो तुम्हारे मन का शान्त

होना आरम्भ हो जायेगा। यह एक मजेदार बात है कि मन बाह्य उत्तेजनाओं से अशान्त तो होता है, किन्तु जब हम प्रत्येक आनेवाली उत्तेजना को स्वीकार कर लेते हैं तब मन को अशान्त करनेवाला कुछ रहता ही नहीं। और यदि हममें ईश्वर के प्रति प्रेम की भावना हो तब तो कार्य और भी सरल हो जाता है। जैसा मैंने कहा, यदि तुम केवल बुद्धि से ही परिस्थितियों को स्वीकार कर लो तब भी वही फल होगा। किन्तु ऐसा करना सदैव सम्भव नहीं हो पाता। साधारणतया भावना के बिना प्रत्येक परिस्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर जब तुम ईश्वर में विश्वास करते हो, जब तुम एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करते हो जो तुम्हारा अपना है, जिसे तुम प्रेम करते हो और जो कृपालु है तब तुम्हारे लिये मार्ग सरल हो जाता है।

ईश्वर-भक्ति का चरम लक्ष्य क्या है?––यह अनुभूति करना कि ईश्वर ही सब कुछ है। जिसे भगवान् में विश्वास है उसे कुछ भी अशान्त नहीं कर सकता। यह एक और उपाय है:––जब तुम यह अनुभव करते हो कि ईश्वर तुम्हारा अपना है और जब आध्यात्मिक साधना के द्वारा तुम यह जानने लगते हो कि तुम कर्ता नहीं हो, तब तुम्हें प्रतीत होता है कि तुम अपने उत्तर-दायित्व से मुक्त हो गये हो। तुम्हें यथार्थ में ऐसा अनुभव होता है। जब तुम यह जान लेते हो कि वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है तथा तुम्हारा अपना है तब

तुम्हारा कोई उत्तरदायित्व नहीं रह जाता। तब तुम अनुभव करने लगते हो कि तुम मुक्त हो, बाह्य संसार से पृथक् हो। तब वह अवस्था आती है जब तुम अपने मन के स्वामी बन जाते हो। क्षुद्र बनने से, शून्य हो जाने से तुम सर्वशक्तिमान् हो जाते हो। तुम ईश्वर की शक्ति के उत्तराधिकारी बन जाते हो।

कहा जाता है कि मानव-जीवन का सर्वोत्तम आनन्द और लक्ष्य इसी जीवन में मुक्त हो जाना है। किन्तु हम अपने जीवन में यथार्थ मुक्ति कैसे पा सकते हैं? राजनैतिक मुक्ति से हमारा मन मुक्त नहीं हो सकता। केवल मानवतावादी दृष्टिकोण हमें शान्ति नहीं दे सकता। श्री शंकराचार्य का एक श्लोक है--

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपत:।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति तत्त्ववित्॥
संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिन:।
बहिरन्त: सदानन्दरसास्वादनमात्मनि॥

--'अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा को ही अपना स्वरूप जान लेने पर फिर किस इच्छा अथवा किस कारण से तत्त्ववेत्ता इस शरीर का पोषण करे? आत्मज्ञान में सम्यक् सिद्धि प्राप्त किये हुए जीवन्मुक्त योगी के लिए यही फल है कि वह अपने आत्मा के नित्यानन्द रस का बाहर-भीतर निरन्तर आस्वादन करता रहे।' (विवेक चूड़ामणि, ४१८-१९)

उस अवस्था के बारे में विचार तो करो जब हम

ऐसी मुक्ति पा लेते हैं कि विश्व-ब्रह्माण्ड की किसी भी वस्तु से विचलित नहीं होते; हमें एक ऐसा आनन्द मिल जाता है जिसका विषयानन्द की भाषा में वर्णन नहीं कर सकते। वह आनन्द भिन्न प्रकार का ही है ऐसी अनन्त और पूर्ण मुक्ति का विचार तो करो। यदि हमें ऐसी मुक्ति मिल जाय तो हमारा लक्ष्य सिद्ध हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य ने छोटी उम्र में ही आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को पुष्ट कर लिया था। वे संस्कृत का अध्ययन करते थे और कठोर तपस्या में रत थे। उन्होंने एक बार कहा था, "जब मुझे श्री शंकराचार्य का उपर्युक्त श्लोक पढ़ने को मिला तो मैं आनन्द से उछल पड़ा। तब मुझे मालूम हुआ कि यह अवस्था इसी जीवन में प्राप्त की जा सकती है।" ये महान् आत्माएँ ही अपने मन के यथार्थ स्वामी हैं। फिर भी यदि हमें इतनी धारणा हो जाय कि यह अवस्था प्राप्त करना सम्भव है और दूसरे व्यक्तियों ने इसकी अनुभूति भी की है तो यही एक बड़ी बात होगी। तब कम से कम हमारे दुःख और कष्ट के क्षणों में एक तीव्रतर विश्वास हमें प्रेरणा देता रहेगा कि हमारी यथार्थ अवस्था मुक्ति की अवस्था है--परम मुक्ति, परम आनन्द एवं परम ज्ञान की अवस्था है।

❀

गीता प्रवचन—६

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

पिछले प्रवचन में गीता के प्रयोजन पर विचार किया था और कहा था कि मोह का नाश ही उसका लक्ष्य है। हमने देखा था कि कैसे अर्जुन मोहाविष्ट हो अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग करना चाहता है, पर कृष्ण उसे वैसा करने नहीं देते। अन्त में कृष्ण के उपदेश से अर्जुन का मोह दूर हो जाता है और उसे पुनः कर्तव्य-अकर्तव्य-ज्ञानरूपी स्मृति वापस प्राप्त हो जाती है।

पिछली बार हमने यह भी कहा था कि भले मोह को दूर करने के लिए कुछ लोग संसार को त्यागकर जंगल चले जायँ, पर सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते। और ये जो कुछ लोग जंगल जाने की बात करते हैं इनमें भी सभी लोग उसके अधिकारी नहीं होते। क्षणिक वैराग्य के आवेश में आकर संसार को छोड़ने की बात सोचना बहुत बड़ी भूल हुआ करती है। ऐसा वैराग्य अधिक देर तक नहीं टिकता। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, जैसे गरम तवे पर एक बूँद जल गिरे तो छन् से वह भाप बनकर उड़ जाती है, उसी प्रकार संसारी व्यक्तियों का वैराग्य होता है। वह एक क्षण ही टिकता है और दूसरे क्षण 'छन् से' उड़ जाता

है। इस प्रकार के वैराग्य को शास्त्रों ने 'श्मशान-वैराग्य' या 'मर्कटः वैराग्य' कहकर पुकारा है। जैसे, जब हमारा कोई प्रिय जन काल-कवलित होता है तो श्मशान में उसे चिता में जलते देख हमारा मन विषाद से भर जाता है। उस समय जगत् मिथ्या प्रतीत होता है, संसार असार लगता है और हमें सब कुछ फीका-फीका मालूम पड़ता है। ऐसी अवस्था में यदि दुःख का आवेश कुछ अधिक हो जाय, तो हम इस संसार को छोड़कर भाग जाने की भी बात सोच सकते हैं। यह सब श्मशान या मर्कट वैराग्य की श्रेणी में आता है।

किसी का घर में किसी से झगड़ा हो गया और वह गुस्से में आकर घर छोड़कर चला गया। चिट्ठी में लिख गया कि मैं घर से तंग आ गया हूँ इसलिए साधू बनने हिमालय की ओर जा रहा हूँ। चिट्ठी पाकर घर के लोग रोने-पीटने लग गये। स्त्री बड़ी विकल हो गयी, माता-पिता सिर धुनने लगे। सभी ओर उसे खोजने के लिए आदमी भेजे गये, पर वह न मिला। अकस्मात् कुछ महीने बाद एक दिन काशी से उसकी चिट्ठी आ गयी--'तुम लोग चिन्ता मत करो, मैं मजे में हूँ। मुझे नौकरी लग गयी है। थोड़े ही दिनों में छुट्टी लेकर आ रहा हूँ'। यह श्मशान-वैराग्य का ही उदाहरण है। हम भी कभी कभी संसार की परि-स्थितियों से घबड़ाकर सब कुछ छोड़ देने की सोचते

हैं। अर्जुन ने भी ऐसा ही सोचा था। पर कृष्ण इस प्रवृत्ति को नष्ट कर देने के लिए कहते हैं। वे तो एक ही बात अर्जुन से कहते हैं—'युध्यस्व'; अर्जुन ! तू युद्ध कर।

अतएव, गीता मनुष्य को संसार में रहना सिखाती है। संसाररूपी काजल की कोठरी में रहकर हम काजल की कालिमा से कैसे बच सकते हैं, यह गीता की शिक्षा है। हमें संसार में ही रहना है। भले कुछ समय के लिए हम निर्जन में चले जायँ, किसी गहन अरण्य में जाकर गुफा में बैठकर कुछ दिन बिता दें, पर आखिर हमें पुनः संसार के कोलाहल में ही लौट आना है। यह संसार ही मोह का रूप है और इस मोह के मध्य रहकर अपने को मोह से बचाना है। गीता के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण इसी की सीख देते हैं कि मोह में रहकर मोह से निर्लिप्त कैसे हुआ जाय। तभी तो वे बारम्बार अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं। वे उसे एक ओर आत्मा का उपदेश देंगे, कहेंगे—अर्जुन ! आत्मा अजन्मा और अविनाशी है। अद्वैत का सारा निचोड़ अर्जुन के सामने रखेंगे और फिर कहेंगे—'युद्धस्व'। यही गीता की टेक है। जैसे गीत की टेक होती है और गीतकार बारम्बार उस टेक में उतर आता है, इसी प्रकार यह 'युध्यस्व' गीता की टेक है। चाहे आत्मा का उपदेश हो या लौकिक दृष्टि से विचार हो, प्रत्येक ऐसे विचार के उपरान्त श्रीकृष्ण के मुख से अर्जुन के प्रति यही टेक सुनायी पड़ती है। जरा देखें—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत।।२।१८

—'हे भारत! इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिए तू युद्ध कर।'

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।२।३१

—'अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है; क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याण कारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है।'

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।२।३२

—'हे पार्थ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार-रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।'

—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।२।३७

—'हे कौन्तेय! या तो मरकर तू स्वर्ग को प्राप्त होगा या फिर जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। अतएव तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।२।३८

—'(यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्य की इच्छा न हो तो भी) सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान

समझकर युद्ध के लिए तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।'

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३।३०

–'हे अर्जुन! तू ध्याननिष्ठ चित्त से समस्त कर्मों को मुझमें समर्पण करके, आशा, ममता और सन्ताप को त्यागकर युद्ध कर।'

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यसि असंशयम् ॥८।७

–'अतएव हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार मुझमें अर्पित किये हुए मन, बुद्धि से युक्त हुआ निस्सन्देह तू मुझी को प्राप्त होगा।'

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ११।३४

—'हे सव्यसाचिन्! इन द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण एवं अन्य और भी अनेक शूरवीर योद्धाओं को, जो मेरे द्वारा पहले से ही मारे जा चुके हैं, तू मार। तू डर मत। तू निस्सन्देह युद्ध में बैरियों को जीतेगा, अतएव उठ, युद्ध कर।'

इसी को हमने गीता की टेक कहा। जब युद्ध करने आये हो तो फिर मुँह पीछे न फेरो। युद्धभूमि में पीठ

न दिखाओ। हम भी तो अर्जुन के समान युद्ध में रत हैं। जैसे अर्जुन दो सेनाओं के बीच में खड़ा था, उसी प्रकार हम भी दो सेनाओं का सामना कर रहे हैं। हमारे भीतर सतत महाभारत चल रहा है। अर्जुन का महाभारत तो अठारह दिन में समाप्त हो गया, पर हमारे भीतर का महाभारत जाने कितने जन्मों से अनवरत चला हुआ है। हमारे भीतर भी दो सेनाएँ हैं——एक है देवताओं की सेना, शुभ प्रवृत्तियों की सेना और दूसरी है असुरों की सेना, अशुभ प्रवृत्तियों की सेना। देवासुर-संग्राम प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में चला हुआ है और हम भी अर्जुन की तरह बीच में खड़े हैं। अच्छाई और बुराई की यह ठनाठनी क्षण-प्रतिक्षण चल रही है। हमारे भीतर आत्मा की आवाज उठती है, फिर शैतान भी अपने बोल सुनाता रहता है। आत्मा की आवाज हमें कुपथ में जाने से रोकती है, हमें सावधान करती है कि कहीं असुरों के फन्दे में न पड़ जाना। वह हमारा सही सही मार्गदर्शन करती है। पर शुभ की यह आवाज बहुधा क्षीण होती है। दूसरी ओर, अशुभ मानो बुलन्द आवाज में हमसे कहता है——'अरे, यह क्या अच्छाई-अच्छाई की रट लगा रखी है! संसार में अच्छाई कहीं है भी? छल-प्रपंच, कपट-द्वेष का ही नाम तो संसार है। अगर आगे बढ़ना है तो दूसरों को छलो। अगर संसार में बचे रहना है तो दूसरों को ठगो, सबसे धोखाधड़ी करो, येन-केन-प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करो।' और हम इन दोनों

आवाजों के बीच, अर्जुन के समान विभ्रमित हो, खड़े हो जाते हैं। हमें कुछ सूझ नहीं पड़ता। बलात् हमारे पैर असुर-सेना की ओर खिंचने लगते हैं। तब मन के किसी अज्ञात कोने से एक धीमा-सा स्वर सुनायी पड़ता है—'मैं तुम्हारा शुभाकांक्षी हूँ। मैं तुम्हारे भीतर का शुभ हूँ, देवता हूँ; भले अभी शिथिल हूँ पर पूरी तरह सोया नहीं हूँ। जिस रास्ते तुम कदम बढ़ा रहे हो उससे तुम्हारा अमंगल ही होगा।' और तब हमारे पैर ठिठक जाते हैं। हृदय के भीतर मन्थन होने लगता है। एक ओर संसार के सुनहले सपने, तड़क-भड़क का प्रलोभन, आमोद-प्रमोद का जीवन, इन्द्रियों को उत्तेजित और तृप्त करने के साधन, और दूसरी ओर जीवन के शाश्वत मूल्यों की झाँकी, इन्द्रियों और मन के स्वामी बनने का दृश्य, त्याग और संयम का जीवन। और इन दोनों के बीच हम मथित होने लगते हैं।

यहीं से हमारी साधना शुरू होती है और हम गीता के उपदेश सुनने के अधिकारी बनते हैं। साधक वह है, गीता का उपदेश सुनने का अधिकार उसे है, जिसे अपने भीतर ये दोनों आवाजें सुनायी देती हैं और जो कुपथ को छोड़कर सीधे रास्ते पर चलना चाहता है। वैसे तो गीता की पुस्तक पाँच पैसे में उपलब्ध है। कोई भी व्यक्ति उसे खरीदकर पढ़ ले सकता है। पर किसी ग्रन्थ को पढ़ लेने से ही उसके मर्म को समझने की योग्यता नहीं प्राप्त हो जाया करती। गीता या धर्मशास्त्र उनके

लिए नहीं है जो दानव की आवाज में बह जाते हैं, अपने को अशुभ की प्रवृत्तियों में बहा देते हैं। गीता उनके लिए है जिनके भीतर का देवता जाग गया है। इस देवता को पुष्ट करना ही गीता का प्रयोजन है।

जिनके भीतर इस देवता को पुष्ट करने की कामना जगी है, वे विवेकी हैं, सुधी हैं और इसीलिए गीता-रूपी दुग्धामृत का पान करने के अधिकारी हैं। अर्जुन के भीतर अचानक युद्धस्थल में यह मन्थन शुरू हो गया। जो हलचल उसके जीवन में कभी नहीं आयी थी, वह हठात् समरांगण में उभर उठती है। दानव देवता का मुखौटा पहनकर उसकी मन की आँखों के सामने खड़ा हो जाता है और उससे कहता है––'अपने ही हाथ से अपने आत्मीय-स्वजनों को मारोगे ? अपने पूज्य गुरु-जनों का वध करोगे ? अरे, अगर कौरव ही राजा बन जाते हैं तो क्या हुआ ? आखिर वे तुम्हारे भाई ही तो हैं !' और अर्जुन इस झाँसे में पड़ जाता है। वह भूल जाता है कि वह धर्म की रक्षा हेतु युद्ध करने आया है। भूल जाता है कि कौरवदल अधर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह युद्ध छोड़कर भिक्षा द्वारा जीवन-यापन की बात करने लगता है। बस, उसके भीतर मन्थन शुरू हो गया और वह गीता के उपदेश सुनने का अधिकारी बन गया।

यही अर्जुन महाभारत-युद्ध के पश्चात् एक दिन श्रीकृष्ण से गीता एक बार पुनः सुनाने का आग्रह करता है। पर कृष्ण उसके अनुरोध को टाल देते हैं। युद्ध के

पश्चात् पाण्डवों के अच्छे दिन आये हैं। अर्जुन निश्चिन्त हैं और संसार के सुखोपभोग में रत हैं। एक दिन कृष्ण के साथ वे टहलने निकलते हैं। एकान्त स्थान में प्रकृति की शोभा निहारते हुए दोनों बैठे हैं। कई प्रसंग उनके वार्तालाप में उठ रहे हैं। अचानक अर्जुन श्रीकृष्ण से अनुरोध के स्वर में कहते हैं, "भगवन्! आपने युद्धभूमि में गीता का जो अपूर्व गायन किया था, उसे एक बार पुनः सुनने की इच्छा है। तब तो मेरा मन अत्यन्त चंचल था और कई प्रकार की विपत्तियों से घबड़ाया हुआ था। आपने तब जो कुछ उपदेश दिया था, उसे मैं अच्छी तरह ध्यान लगाकर सुन न सका था और वह सब मैं भूल भी गया हूँ। अब तो आपकी कृपा से मेरी सारी चिन्ता दूर हो गयी है और मेरा मन भी आनन्द में है। यदि एक बार पुनः वही उपदेश सुना दें तो बड़ी कृपा होगी।" उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा था––

न शक्यं तन्मया भूयः तथा वक्तुम् अशेषतः।
परं हि ब्रह्मकथितं योगयुक्तेन तन्मयाः॥

–'हे अर्जुन! उस समय मैंने अत्यन्त योग-युक्त अन्तःकरण से उपदेश किया था। अब सम्भव नहीं कि मैं वैसा ही उपदेश फिर कर सकूं।'

श्रीकृष्ण के इस कथन का क्या तात्पर्य है? यही कि गीता का उपदेश करते समय कृष्ण ब्रह्म-तन्मयता की स्थिति में थे, समाधि की अवस्था में थे। अर्जुन के हृदय के मन्थन ने कृष्ण के गुरुभाव को जागृत कर दिया था। अर्जुन को

सुनने की स्थिति में देखकर कृष्ण का मन योग की उच्च स्थिति में जाकर आरूढ़ हो जाता है। शिष्य जब विह्वल होकर गुरु के शरणागत होता है तब ईश्वर गुरु के माध्यम से शिष्य पर कृपा करते हैं। परिस्थितियों से घबड़ाकर अर्जुन श्रीकृष्ण की शरण जाता है और कहता है —'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' —'मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण आया हूँ, मुझे शिक्षा दीजिए'। और श्रीकृष्ण शिष्य की यह विह्वलता, यह कातरता देखकर विगलित हो जाते हैं और योगयुक्त हो जाते हैं। योगयुक्त होने का अर्थ है समाधि का अनुभव करना। और समाधि में मनुष्य अडोल हो जाता है। पर यहाँ कृष्ण के रूप में हम ऐसे अद्‌भुत पुरुष को देख रहे हैं जो समाधि में गीता का गायन करता है। अतएव गीता की भाषा को मैं समाधि की भाषा कहता हूँ। गीता के समस्त उपदेश समाधि की भाषा में दिये गये हैं, वे ऋषि-प्रसूत उपनिषद्-मंत्रों के समान भगवान् के द्वारा देखे गये मंत्र हैं।

इसीलिए, जब अर्जुन श्रीकृष्ण से एक बार पुनः गीता सुनाने का आग्रह करता है, तब वे कहते हैं कि अब वह सम्भव नहीं है। तब, समरांगण में, कृष्ण अर्जुन की मनःस्थिति को देखकर योग की उच्च अवस्था में आरूढ़ हो गये थे। तब अर्जुन यथार्थ अर्थों में श्रोता के गुणों से युक्त था। आज उसमें यथार्थ श्रोता की पात्रता नहीं है। आज जो कुछ वह कृष्ण से पूछ रहा है, उसमें तब का-सा ताप नहीं है, विकलता नहीं है। आज महज उत्सुकता-

वश वह पूछ रहा है। और अध्यात्म की विद्या, यह गूढ़ योग उन लोगों के लिए के नहीं है जो केवल उत्सुकता-वश इसके पीछे जाते हैं। आज अर्जुन के प्राणों में खल-बली नहीं है। इसीलिए कृष्ण गीता का फिर से उपदेश नहीं करते। कृष्ण बड़े उदार हैं। वे अर्जुन से ऐसा नहीं कहते—'अर्जुन! आज तुझमें गीता सुनने की पात्रता नहीं है, इसलिए नहीं सुना रहा हूँ;' बल्कि कहते हैं—'मुझमें ही सुनाने की पात्रता नहीं है, आज मेरा चित्त योगयुक्त नहीं है।' वे शिष्य का दोष अपने सिर मढ़ लेते हैं।

तो, गीता उनके लिए है, जिनके भीतर मन्थन प्रारम्भ हो गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यदि आकुलता न हो, यदि भीतर मन्थन न हो तो गीता पढ़ी ही न जाय। गीता का पाठ तो सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है। भड़कीले उपन्यास और कहानियाँ पढ़ने की अपेक्षा गीता के पठन से अवश्यमेव लाभ होगा और सम्भव है कि धीरे धीरे पाठक के हृदय में मन्थन शुरू हो जाय। पर गीता-पाठ का वास्तविक लाभ उन्हें प्राप्त होगा जो संसार के द्वन्द्वों से विकल होकर राह की खोज में हैं, जो सचमुच इन्द्रियों और मन की गुलामी से त्रस्त हैं तथा इस गुलामी का खात्मा कर देना चाहते हैं।

कई लोग महज पाठ के लिए गीता का पाठ करते हैं। वे पूजा-उपासना का एक क्रम बना लेते हैं जिसके अन्तर्गत रामायण या गीता का नित्य पारायण भी होता है। यह कोई गलत बात नहीं है। यह अच्छा ही है। पर इस

पारायण को ही सब कुछ समझ लेना गलत बात है। केवल पारायण किया जाय और अर्थ की ओर ध्यान न हो तो ऐसा पारायण विशेष लाभदायक नहीं होता। वैसे तो तोते को भी रामायण या गीता का अंश रटा देने से वह रामायण की चौपाइयाँ और दोहे बोल लेगा, गीता के श्लोक दुहरा देगा, पर उससे क्या ? जब उस पर बिल्ली झपटेगी तो वह 'टें-टें' ही करेगा, रामायण और गीता के बोल भूल जायगा। हम भी अधिकांशतः तोते के समान होते हैं। बहुत से उपदेशों को दुहरा तो लेते हैं, पर जब व्यावहारिक जीवन में उन उपदेशों को उतारने का समय आता है, तो हम तोते के समान टें-टें करने लगते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि गीता का पारायण व्यर्थ है। तात्पर्य यह है कि पारायण के पीछे भाव होना चाहिए—— जीवन के शाश्वत मूल्यों को समझने का भाव, जीवन-संग्राम को समझने का भाव, हृदय में चलनेवाले देवासुर-संग्राम में देवों को विजयी बनाने का भाव। यदि यह भाव हमें पारायण के लिये प्रेरित करता है तो हम सही रास्ते पर कदम बढ़ा रहे हैं। अस्तु !

अब एक प्रश्न पर विचार कर लें कि गीता का गायन किस दिन हुआ ? परम्परा से गीता-जयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को मनायी जाती है। मार्गशीर्ष को अग्रहायण या अगहन का महीना भी कहते हैं। महाभारत में कतिपय श्लोक हैं जिनके द्वारा गीता- प्रारम्भ की तिथि के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जाता है।

सबसे पहले उस घटना का उल्लेख करें जब जयद्रथ का वध होता है। यह घटना महाभारत-युद्ध के चौदहवें दिन घटती है। प्रथम दस दिन तक युद्ध करके भीष्म-पितामह शरशय्याशायी होते हैं, तत्पश्चात् दोणाचार्य कौरवों के सेनानायक बनते हैं और उनके सेनापतित्व के तीसरे दिन अभिमन्यु का वध होता है। अर्जुन जब जानते हैं कि जयद्रथ के छल से अभिमन्यु मारा गया है तो वे दूसरे दिन सूर्यास्त के पूर्व तक जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रकार युद्ध-प्रारम्भ से चौदहवें दिन अर्जुन ने जयद्रथ का वध कर अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह किया। उसी दिन द्रोणाचार्य ने रात्रि-युद्ध किया। सामान्यतः सेनाएँ सन्ध्या के समय युद्ध से विरत हो जाती थीं और दूसरे दिन सुबह प्रातःकृत्य के पश्चात् पुनः युद्ध में लग जाती थीं। यही उस समय युद्ध का नियम था। पर इस चौदहवें दिन इस नियम का पालन नहीं किया गया और रात्रि में भी युद्ध होता रहा। महाभारत में इस प्रसंग का वर्णन करते हुए कहा गया है (द्रोणवधपर्व,१८४। २३-२८)—

संसर्पन्तो रणे केचिन्निद्रान्धास्ते तथा परान्।
जघ्नुः शूरा रणे शूरांस्तस्मिंस्तमसि दारुणे॥
हन्यमानमथात्मानं परेभ्यो बहवो जनाः।
नाभ्यजानन्त समरे निद्रया मोहिता भृशम्॥
श्रान्ता भवन्तो निद्रान्धाः सर्व एव सवाहनाः।
तमसा च वृत्ते सैन्ये रजसा बहुलेन च॥

ते यूयं यदि मन्यध्वमुपारमत सैनिकाः ।
निमीलयत चात्रैव रणभूमौ मुहूर्तकम् ।।
ततो विनिद्रा विश्रान्ताश्चन्द्रमस्युदिते पुनः ।
संसाधयिष्यथान्योन्यं संग्रामं कुरुपाण्डवाः ।।

—'कुछ शूर-वीर निद्रान्ध होकर भी रणभूमि में विचरते थे और उस दारुण अन्धकार में शत्रुपक्ष के शूर-वीरों का वध कर डालते थे। बहुत से मनुष्य निद्रा से अत्यन्त मोहित हो जाने के कारण शत्रुओं की ओर से समरभूमि में अपने को जो मारने की चेष्टा होती थी, उसे समझ ही नहीं पाते थे। (तब अर्जुन ने कहा–) सैनिकों, तुम सब लोग अपने वाहनों सहित थक गये हो और नींद से अन्धे हो रहे हो। इधर यह सारी सेना घोर अन्धकार और बहुत सी धूल से ढक गयी है। अतः यदि तुम ठीक समझो तो युद्ध बन्द कर दो और दो घड़ी तक इस रणभूमि में ही सो लो। तत्पश्चात् चन्द्रोदय होने पर, विश्राम करने के अनन्तर निद्रारहित हो, तुम समस्त कौरव-पाण्डव योद्धा परस्पर पूर्ववत् संग्राम आरम्भ कर देना।'

इस वर्णन से विदित होता है कि वह कृष्ण पक्ष की रात्रि थी। वह कौनसी तिथि रही होगी इसका अनुमान चन्द्रोदय के वर्णन से लगाया जा सकता है। उसी अध्याय में आगे कहा गया है (४६,४८,५३)—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ।।

हरवृषोत्तमगात्रसमद्युतिः
स्मरशरासनपूर्णसमप्रभः ।
नववधूस्मितचारुमनोहरः
प्रविसृतः कुमुदाकरबान्धवः ॥
प्रतिप्रकाशिते लोके दिवाभूते निशाकरे ।
विचेरुर्न विचेरुश्च राजन् नक्तंचरास्ततः ॥

–'तत्पश्चात् कामिनियों के कपोलों के समान श्वेतपीत वर्णवाले नयनानन्ददायी कुमुदनाथ चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को सुशोभित किया। भगवान् शंकर के वृषभ नन्दिकेश्वर के उत्तम अंगों के समान जिसकी श्वेत कान्ति है, जो कामदेव के श्वेत पुष्पमय धनुष के समान पूर्णतः उज्ज्वल प्रभा से प्रकाशित होता है और नववधू की मन्द मुसकान के सदृश सुन्दर एवं मनोहर जान पड़ता है; वह कुमुदकुल-बान्धव चन्द्रमा क्रमशः ऊपर उठकर आकाश में अपनी चाँदनी छिटकाने लगा। चन्द्रदेव के पूर्णतः प्रकाशित होने पर जगत् में दिन का-सा उजाला हो गया। राजन्! उस समय रात्रि में विचरनेवाले कुछ प्राणी विचरण करने लगे और कुछ जहाँ के तहाँ पड़े रहे।'

चन्द्रमा का यह जो वर्णन है वह कृष्णपक्ष के नवमी दशमी के चन्द्रमा का ही हो सकता है; यह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा का वर्णन तो हो ही नहीं सकता। अतएव यदि शुक्ल-एकादशी को गीता-प्रादुर्भाव की तिथि मानें तो उसके चौदह दिन बाद सामान्यतः कृष्ण-नवमी तिथि आती है। फिर, महाभारत में यह भी कहा गया है कि

युद्ध के समय में एक पखवाड़ा तेरह दिन का हुआ था। ऐसी दशा में शुक्ल-एकादशी को महाभारत-युद्ध का प्रारम्भ या गीता का गायन ठीक घट जाता है और युद्ध के चौदहवें दिन चन्द्रमा का यह वर्णन भी संगत हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि गीता का प्रादुर्भाव मार्गशीर्ष महीने में ही क्यों माना गया है? इसके भी कुछ तर्क-संगत कारण हमें महाभारत में प्राप्त होते हैं। पहला तो यह कि भगवान् कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर कार्तिक महीने में, दीपावली के आसपास, कौरव-सभा में गये थे। उनके लौटने के बाद युद्ध की तैयारी की गयी और लड़ाई शुरू हुई। इस घटना से महाभारत-युद्ध का प्रारम्भ मार्गशीर्ष में ही होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, जब भीष्म आहत हुए और शरशय्या में पड़ गये तब दक्षिणायन था। इसीलिए वे उत्तरायण की प्रतीक्षा में शरशय्या पर इतने दिन कष्ट सहते हुए पड़े रहे।

एक दूसरा विचार भी सामने आता है। गीता के दसवें अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्', 'महीनों में मैं मार्गशीर्ष हूँ।' प्रश्न उठता है कि ऐसी कौनसी विशेषता उन्होंने मार्गशीर्ष में देखी कि उसे इतना महत्त्व प्रदान कर दिया? मार्गशीर्ष में न तो उत्तरायण हुआ होगा और न ऋतुराज वसन्त का आग-

मन ही। अतएव उक्त उद्‌गार का आशय विद्वज्जन ऐसा करते हैं कि भगवान् कृष्ण का अवतार भूमि का भार हरने के लिए हुआ था और वह भार-हरण का कार्य महाभारत-युद्ध में विशेष रूप से सम्पादित हुआ। और चूंकि उनके अवतार का यह मुख्य प्रयोजन मार्गशीर्ष महीने में सिद्ध हुआ इसलिए उन्होंने मार्गशीर्ष को अपना रूप बताया; क्योंकि तभी तो मानव-मात्र में रूढ़ मोह के नाश के लिए गीता-मन्दाकिनी बहाकर वे विशेष रूप से प्रकट हुए थे।

फिर, हम शान्तिपर्व में पढ़ते हैं कि युद्ध के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ तथा समस्त मृत आत्माओं की शान्ति के हेतु श्राद्ध-कर्म आदि किये गये। तत्पश्चात् युधिष्ठिर के मन के खेद को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण उन्हें अन्य पाण्डवों के साथ भीष्म पितामह के पास ले गये। तब महाभारत-युद्ध को समाप्त हुए दो दिन हुए थे। पितामह के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण उनसे कहते हैं (५१।१४) —

पंचाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम्॥

—'कुरुवीर भीष्म! अब आपके जीवन के कुल छप्पन दिन शेष हैं। तदनन्तर आप इस शरीर का त्याग करके अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप उत्तम लोकों में जायेंगे।'

यह बात श्रीकृष्ण पौष शुक्ल तृतीया को भीष्म पितामह से कहते हैं ऐसा अनुमान होता है। यहाँ पर हमें

एक बात और माननी पड़ेगी, वह यह कि उस समय पौष महीने का एक अधिक-मास हुआ था। इस मान्यता का कारण यह है कि पाण्डवों ने एक महीने तक अशौच-पालन किया था। यह स्पष्ट नहीं है कि यह अशौच-पालन एक महीने की दीर्घ अवधि के लिए क्यों किया गया। यदि यह अनुमान लगायें कि पौष-मास अधिक-मास होने के कारण मल-मास भी था तो यह सम्भव है कि इस महीने में पाण्डवों ने अशौच-पालन किया हो। यदि यह मान लें तो भगवान् श्रीकृष्ण ने ऊपर में भीष्म पितामह के छप्पन दिन और जीवित रहने की जो बात कही है, उसकी पितामह के देह-त्याग की तिथि से संगति बैठ जाती है हम यहाँ पर गणना महीने को पूर्णिमान्त मानकर कर रहे हैं।

महाभारत से ज्ञात होता है कि भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर-प्रमुख पाण्डवों को जो उपदेश प्रदान किया वह पाँच दिन तक चलता रहा। इसके बाद युधिष्ठिर भाइयों सहित हस्तिनापुर चले जाते हैं और वहाँ पचास दिन निवास करते हैं। तदनन्तर सूर्य को दक्षिणायन से उत्तरायण में आया देखा वे भीष्म पितामह के पास दाह-संस्कार आदि की सामग्री लेकर आते हैं। महाभारत में लिखा है (अनुशासनपर्व, १६७।५)—

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पंचाशन्नगरोत्तमे।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः॥

—'पचास रात तक उस उत्तम नगर में निवास करके श्रीमान्

पुरुषप्रवर युधिष्ठिर को कुरुकुल-शिरोमणि भीष्मजी के बताये हुए समय का स्मरण हो आया।'

युधिष्ठिर को सम्मुख देखकर भीष्म पितामह कहते हैं (१६७।२६-२८)—

दिष्टया प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर।
परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः॥
अष्टपंचाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥
माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥

—'कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! सौभाग्य की बात है कि तुम मंत्रियों सहित यहाँ आ गये। सहस्र किरणों से सुशोभित भगवान् सूर्य अब दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर लौट चुके हैं। इन तीखे अग्रभागवाले बाणों की शय्या पर शयन करते हुए आज मुझे अट्ठावन दिन हो गये; किन्तु ये दिन मेरे लिए सौ वर्षों के समान बीते हैं। युधिष्ठिर! इस समय चान्द्रमास के अनुसार माघ का महीना चल रहा है। इस पक्ष को बीतने में मात्र तीन मुहूर्त और बाकी हैं, फिर तो शुक्ल पक्ष लग जायगा।'

हमने पहले कहा है कि जिस दिन श्रीकृष्ण ने भीष्मपितामह से उनके और भी छप्पन दिन जीवित रहने की बात कही है, उस दिन तिथि अनुमानतः पौष शुक्ल तृतीया रही होगी। उसके बाद का हिसाब लगायें तो पौष के अधिक-मास यानी मल-मास को मिलाने पर माघ अमावस्या को छप्पन

दिन पूरे होते हैं। इस प्रकार भगवान् कृष्ण और भीष्म-पितामह के कथनों की संगति बैठ जाती है। केवल एक ही बात असंगत रह जाती है, वह यह कि भीष्मपितामह उपर्युक्त श्लोक में कहते हैं—'मुझे इस शरशय्या पर पड़े अट्ठावन दिन हो गये।' हिसाब लगाने पर दिखता है कि जब से पितामह शरशय्याशायी हुए तब से उनके देह-त्याग तक ६६ दिन हो जाते हैं——युद्ध की समाप्ति तक आठ दिन, युधिष्ठिर के राज्याभिषेक आदि में दो दिन तथा बाद में छप्पन दिन। यदि ऐसा मान लें कि युद्ध के शेष आठ दिनों को पितामह ने अपनी गिनती में स्थान नहीं दिया और उन्होंने युद्ध के बाद के अट्ठावन दिनों को ही अपनी गणना में पकड़ा, तो उनका यह कथन भी संगत हो जाता है। सम्भव है, युद्ध की समाप्ति तक भीष्म पितामह की ओर अधिक ध्यान न दिया गया हो या उन्होंने स्वयं उस समय तक लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न किया हो। जो हो, उपर्युक्त हिसाब से महाभारत में आये इन श्लोकों की सगति बैठ जाती है।

इसके पश्चात् एक प्रश्न और रहा कि आज से कितने वर्ष पूर्व गीता का प्रादुर्भाव हुआ होगा? हम पहले ही कह चुके हैं कि गीता महाभारत का अंश है। महाभारत ग्रन्थ के अनुसार हमें विदित होता है कि उसका स्वयं का निर्माण-काल युद्ध के पचास वर्ष बाद ही है। आदिपर्व में लिखा है कि जब युद्ध समाप्त हो गया और धृतराष्ट्र स्वर्ग चले गये, उसके बाद महर्षि व्यास ने अपना महाभारत

ग्रन्थ प्रकट किया। इससे प्रतीत होता है कि धृतराष्ट्र के जीते-जी यदि व्यास महाभारत के माध्यम से दुर्योधन की अन्यायपरता और हठवादिता को प्रकट कर देते, तो धृतराष्ट्र को मार्मिक पीड़ा होती। व्यास नहीं चाहते थे कि भाग्यहीन और दुःखी धृतराष्ट्र को और अधिक पीड़ा पहुँचायी जाय। इसलिये उन्होंने धृतराष्ट्र की मृत्यु के उपरान्त अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया। धृतराष्ट्र की मृत्यु महाभारत-युद्ध के पचीस-तीस वर्ष बाद ही सिद्ध होती है। इससे यह अनुमान करना सुसंगत है कि महाभारत ग्रन्थ युद्ध के प्रायः पचास वर्ष बाद प्रकट हुआ होगा। महाभारत-युद्ध का काल-निर्णय करने के लिए हमें महाभारत-ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ विवेचना करनी होगी। यह विवेचना हम अपने अगले प्रवचन में करेंगे।

(क्रमशः)

●

करुणामयी रानी

नित्यरंजन चट्टोपाध्याय
(४ ए, सीताराम घोष स्ट्रीट, कलकत्ता-६)

बंग देश के चौबीस परगने जिले का सोनागाँव। ग्राम के निकट से ही पुण्यतोया भागीरथी कल-कल करती हुई बही जा रही हैं। ग्यारह वर्षीया रानी अपनी बुआ क्षेमंकरी के साथ गंगा स्नान करने चली। गरीब की लड़की हुई तो क्या हुआ, ऐसा रूप तो इस संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता! राजचन्द्र नौका-विहार कर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि इस बालिका पर पड़ी और वे मुग्ध-नेत्रों से उसे एकटक निहारने लगे। उन्होंने ठान लिया कि वे इसी बालिका से विवाह करेंगे।

राजचन्द्र कलकत्ता के जानबाजार के प्रतिष्ठित जमींदार प्रीतिराम दास के कनिष्ठ पुत्र थे। पिता ने अपने पुत्र के दो विवाह किये। किन्तु दोनों बार पत्नी-वियोग होने के कारण राजचन्द्र ने यह निश्चय किया था कि वे अब विवाह नहीं करेंगे। किन्तु ईश्वरेच्छा बलीयसी! अन्यथा विवाह के लिये अनिच्छुक राजचन्द्र स्वयं याचक होकर विवाह की बात क्यों उठाते?

यही रानी बाद में चलकर रानी रासमणि के नाम से विख्यात हुईं, जिनके पुण्य प्रभाव से परमपुरुष श्रीरामकृष्ण, परमाप्रकृति श्रीमाँ सारदामणि, वीर संन्यासी स्वामी विवेकानन्द तथा और भी अनेक लोगों ने दक्षिणे-

श्वर की पावन भूमि में जाने कितनी लीलाएँ की थीं। बंगाब्द १२०० वर्ष के ११ वें आश्विन (सन् १७९३ ई०) को एक मध्यवित्त परिवार में रानी का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम था हरेकृष्ण दास और माता थीं रामप्रिया देवी। हरेकृष्ण के दिन कठिनाई से चला करते। वैसे वे बड़े ही खरे व्यक्ति थे। उनकी सत्प्रवृत्ति, सत्य-वादिता और सरलता ने ग्रामवासियों को मुग्ध कर रखा था। सभी लोग इस धर्मभीरु सरल व्यक्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते थे। ऐसे पति की सह-धर्मिणी थीं रामप्रिया देवी! वे भी धार्मिक प्रवृत्ति की अतिथिपरायण महिला थीं। निर्धन होने पर भी उनका संसार बड़ा शान्तिपूर्ण था। ऐसे सुन्दर परिवेश में रानी ने जन्म-ग्रहण किया था। रामप्रिया देवी ने बालिका के रानी और रासमणि दोनों ही नाम रखे थे। उसका घर का एक और नाम पोशाकी भी था। बाद में उसके दोनों नाम मिलकर एक हो गये और वह रानी रासमणि हो गयी।

माता-पिता की शुभ प्रवृत्तियों और धार्मिक भावनाओं का रासमणि के जीवन में यथेष्ट प्रभाव हुआ था। पिता से उसने साधारण बँगला तथा रामायण-महाभारत की कहानियाँ सीखी थीं। निर्धन, विपत्तिग्रस्त और पीड़ितों के प्रति उसका कोमल हृदय सहानुभूति से भर उठता था। धीरे धीरे रानी ने सातवें वर्ष में पैर रखा। अचानक उसके संसार में एक दुर्घटना घटी। कुछ दिनों

के साधारण ज्वर से पीड़ित होकर रामप्रिया देवी ने इहलोक त्याग दिया। असहाय, निर्धन पिता की छोटी पुत्री को उसकी विधवा बुवा क्षेमंकरी ने हृदय से लगा लिया।

जमींदार प्रीतिराम को जब यह समाचार मिला कि राजचन्द्र ने रानी को पसन्द किया है, तो उन्होंने विवाह का प्रस्ताव लेकर एक व्यक्ति को हरेकृष्ण के पास भेजा। हरेकृष्ण आनन्द में विभोर हो उठे! सोचने लगे, क्या यह कभी सम्भव है? मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ? इस प्रस्ताव में मतामत देनेवाला भला मैं कौन होता हूँ? यह तो विधि का ही विधान दिखता है। इसे सिर झुकाकर स्वीकार करना ही होगा। बस, क्या था, १२११ बंगाब्द के ८ वें वैशाख (अप्रैल १८०४ ई०) को रानी का विवाह राजचन्द्र के साथ हो गया। एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। मर्त्य लोक में भगवान् के लीलाक्षेत्र की सृष्टि का बीज अंकुरित हुआ।

विवाह के पश्चात् ही रासमणि श्वसुरालय आ गयीं। उनके कलंकशून्य चरित्र के माधुर्य से सभी लोग मुग्ध हो गये। अपने सहज, सरल और स्नेहपूर्ण व्यवहार से उन्होंने सभी को अपना बना लिया। रासमणि के ससुराल आते ही प्रीतिराम के व्यापार-व्यवसाय तथा जमींदारी के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि होने लगी। घर के सभी लोगों ने लक्ष्मीस्वरूपा इस छोटी बालिका को अपनी स्नेह-छाया में घेर रखा था। कुछ वर्ष निर्विघ्न बीते। उसके पश्चात्

एक दिन संसार के बन्धन काटकर राजचन्द्र के माता-पिता ने परलोक का रास्ता पकड़ा। फलस्वरूप राजचन्द्र के ऊपर व्यवसाय-वाणिज्य और जमींदारी के प्रबन्ध का भार आ पड़ा। रासमणि ने भी संसार के दायित्वों का भार अपने कन्धों पर उठा लिया और सब कार्य सुचारु रूप से करते हुए अपने पति को जमींदारी और व्यवसाय के काम-काज में सहायता देने लगीं। राजचन्द्र रासमणि की बुद्धिमत्ता देख विस्मित हो गये; रानी की असाधारण प्रतिभा के प्रति उनकी श्रद्धा हो गयी।

वर्ष पर वर्ष बीत चले। समय में रासमणि चार कन्याओं की जननी हुईं। पिता हरेकृष्ण इस संसार से चल बसे। परिपाटी के अनुसार चतुर्थी श्राद्ध करने के लिए रासमणि गंगा के तीर पर आयीं। स्नान-घाट की शोचनीय अवस्था देख उनकी आँखों में पानी भर आया। कितने लोग दूर-दूर से स्नान की अभिलाषा से इस घाट पर आते हैं। कितना कष्ट उठाना पड़ता है उन लोगों को! घर लौटकर राजचन्द्र से अनुमति ले रानी ने उस घाट की तथा उससे संलग्न रास्ते की मरम्मत करवायी। मानव के कष्टों के मोचन का नीरव साक्षी हो वह घाट आज भी राजचन्द्र की स्मति को वहन करता चला आ रहा है और बाबूघाट के नाम से परिचित है। रासमणि की प्रेरणा से अहीरटोला का घाट बना और नीमतला के गंगा-यात्रियों के घर का निर्माण

हुआ। अपनी जमींदारी के विभिन्न भागों में राजचन्द्र ने कुएँ खुदवाये जिससे ग्रामवासियों का जल-कष्ट दूर हुआ। पथ-निर्माण, तालाब-खनन आदि कार्यों के अलावे राजचन्द्र अन्य अनेक जनहितकारी कार्यों में भी लगे रहते थे। कलकत्ते के हिन्दू कालेज की स्थापना में उनका आर्थिक सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। राजा राम-मोहन राय के सतीदाह-निवारण कार्य में उन्होंने पूरी तरह सहयोग दिया था। जब सरकारी पाठशाला की स्थापना हुई तो राजचन्द्र ने एक साथ दस हजार रुपये का दान दिया। और उनके इन समस्त जनहितकर कार्यों के पीछे रासमणि की ही प्रेरणा थी।

जानबाजार के फ्रीस्कूल स्ट्रीट पर ६ बीघा जमीन में राजचन्द्र ने अपने निवास-भवन का निर्माण करवाया था। इस भवन का निर्माण-कार्य आठ वर्ष तक चला और इस पर पचीस लाख रुपये व्यय हुए। राजचन्द्र ने भवन का नाम 'रासमणि कुटीर' रखकर रासमणि की स्मृति को अक्षय कर दिया। इस कुटीर में राजा राम-मोहन राय, प्रिंस द्वारकानाथ, सर राधाकान्त देव तथा और भी अनेकों गणमान्य व्यक्ति पधारे थे। यह कुटीर बारहों महीने पूजा-पर्वों से मुखरित रहा करता। यहीं पर राजचन्द्र ने किसी संन्यासी के द्वारा दिये गये विष्णु के विग्रह को प्रतिष्ठित किया था। अँगरेज सरकार ने राजचन्द्र को रायबहादुर की पदवी से भी विभूषित किया था।

सन् १८३६ ई० में कुछ दिनों की सामान्य अस्वस्थता में ही राजचन्द्र केवल ४९ वर्ष की अवस्था में इस लोक से चल बसे और अपनी विपुल सम्पदा की रक्षा के लिये अपनी सुकोमल सहधर्मिणी रासमणि को छोड़ गये। पति की मृत्यु के पश्चात् रासमणि ने एक एक करके चारों कन्याओं का विवाह कर दिया। उनके जामाताओं में मथुरमोहन विश्वास सभी प्रकार से उनकी सहायता करते। ये बाद में श्रीरामकृष्ण देव का साहचर्य प्राप्त कर धन्य हुए थे।

प्रिंस द्वारकानाथ से रासमणि को दो लाख रुपये लेने थे। यह राशि देने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने छत्तीस हजार रुपये साल की आय का एक परगना रानी के नाम लिख दिया था। जमींदारी के समस्त काम-काज मथुरबाबू की सहायता से रानी स्वयं करतीं। उन्होंने पड़ोसी जमींदार द्वारा प्रजा पर होनेवाले अत्याचार का तथा नील का व्यवसाय करनेवाले गोरों के उत्पीड़न का कठोर हाथों से दमन किया था।

सांसारिक कार्यों के संचालन के लिये जिस तीक्ष्ण बुद्धि का प्रयोजन होता है, रासमणि को वह पूरी मात्रा में प्राप्त थी। दूसरी ओर, उनकी तितिक्षा थी, त्याग था ब्रह्मचारिणी की अपेक्षा भी अधिक कठोर! वैयक्तिक कार्यों से बचे समय में वे सर्वदा धर्म-चर्चा में लगी रहतीं। उस समय विदेशी चीजों के बहिष्कार का आन्दोलन चला हुआ था। विपुल सम्पदा की अधिकारिणी होकर भी

रानी रग-रग में स्वदेशी थीं

एक बार मथुरबाबू की इच्छा हुई कि जगन्माता के लिये चाँदी का रथ बनाया जाय। इस कार्य का भार हैमिल्टन कम्पनी को देना निश्चित हुआ। रासमणि विस्मित हुईं कि क्या हमारे देश में कारीगर नहीं हैं? अन्त में देशी कारीगरों के द्वारा ही वह रथ बनवाया गया। उस युग में रासमणि का वह देव-रथ कलकत्ता-निवासियों के लिये दर्शनीय वस्तु था।

यद्यपि रासमणि का अन्तःकरण कोमल था, तथापि अन्याय के प्रति वे वज्र-कठोर थीं। उन्मत्त गोरों के दल ने लूट की इच्छा से जिस दिन उनके घर पर आक्रमण किया था, उस दिन रासमणि की तेजस्विता के सम्मुख आक्रमणकारियों के हौसले पस्त हो गये थे। उसी प्रकार, जब मछुओं पर कर लगाया गया था, तब रासमणि की बुद्धिमत्ता से बाध्य होकर अँगरेज सरकार को वह कर हटा लेना पड़ा था।

रासमणि के दान की तुलना नहीं। जहाँ भी दुःखी और पीड़ित लोग थे, वहाँ-वहाँ उनके करुणापूर्ण हाथ सहायता के लिए बढ़े थे। उन्होंने बहुत से तीर्थों में भ्रमण किया और मुक्त हस्त से अनाथों और आर्तों को दान दिया; रास्तों और घाटों को सुधरवाया, तालाब खुदवाये। यहाँ तक कि जलदस्यु भी उनके पास भिक्षा माँगने जाकर खाली हाथ नहीं लौटा! यही उनकी विलक्षणता थी।

आज रासमणि काशी के पथ पर निकल पड़ी हैं। साथ में लगभग पचीस बजरे हैं। बजरों में स्वजन-सम्बन्धी हैं, सिपाही-पहरेदार हैं, खाद्य-सामग्री भरी है। रासमणि अपने कक्ष में बैठी एकाग्र मन से इष्ट का नाम-स्मरण कर रही हैं। दक्षिणेश्वर ग्राम आया। सन्ध्या हो रही है। बजरों को वहीं बाँधकर रात्रि-विश्राम की व्यवस्था हुई। रात्रि क्रमशः गहरी हो गयी। बजरे के लोग निद्रा में अचेत हैं। जाग रहे हैं कोने कोने में पहरा देते हुए सिपाही-पहरेदार। रासमणि भी गहरी नींद में बेसुध हैं। एक अद्‌भुत स्वप्न देखा उन्होंने—देवी अन्नपूर्णा उनसे कह रही हैं, 'रासमणि! तुम्हें काशी जाने की आवश्यकता नहीं। यहीं पर तुम शिव-शक्ति के मन्दिर की स्थापना करो। तुम्हारी पूजा मैं ग्रहण करूँगी।' दूसरे दिन नींद खुलते ही रासमणि ने बजरे लौटा लेने की आज्ञा दी। खाद्य-सामग्री दीन-दुखियों में बँटवा दी गयी।

रासमणि घर लौट आयीं। मन में उत्कण्ठा जाग गयी कि यह दैवी आदेश कैसे पूर्ण हो। सोचने लगीं, यह तो अद्‌भुत संकेत मिला कि भगवान् मृत्युलोक में लीला करने आ रहे हैं। थोड़े ही दिनों के भीतर दक्षिणेश्वर ग्राम में गंगा के किनारे एक भूमिखण्ड का पता लगा। उसके एक ओर सुप्रीम कोर्ट के एटर्नी हेस्टी साहब की कोठी थी और दूसरी ओर मुसलमानों का कब्रस्तान तथा काजी साहब का पीर था। समूची भूमि का क्षेत्रफल

लगभग साठ बीघा था। १८४७ ई० की छठी सितम्बर को रासमणि ने वह भूमि खरीद ली और मन्दिर का निर्माण-कार्य प्रारम्भ हो गया।

गंगा के किनारे पार बाँधने और घाट बनाने का कार्य मैक्रिन्स कम्पनी ने पूर्ण किया। इस पर एक लाख साठ हजार रुपये खर्च हुए। एक-एक करके द्वादश शिव-मन्दिर, नाट-मन्दिर, विष्णु-मन्दिर तथा काली-मन्दिर का कार्य शुरू हुआ। मन्दिर का कलश नवरत्नों से खचित हुआ। लम्बे आठ वर्षों तक मन्दिर का निर्माण-कार्य चलता रहा। १८४७ ई० में प्रारम्भ होकर कार्य १८५५ ई० में समाप्त हुआ। इस कार्य में आठ लाख से भी अधिक रुपये खर्च हुए। मन्दिर के विग्रह-निर्माण के समय रासमणि ने कठोर नियमों का पालन किया था। वे त्रिसन्ध्या स्नान करतीं, हविष्यान्न ग्रहण करतीं, भूमि-शयन करतीं और संसार-चिन्ता त्यागकर इष्ट-देव के चिन्तन में निमग्न रहतीं।

मन्दिर निर्मित हुए। रासमणि ने १२६२ बंगाब्द के १८ वें ज्येष्ठ को शुद्धाचार पूर्वक मन्दिरों में देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा करायी। उस दिन बृहस्पतिवार स्नान-यात्रा का पर्व था। अँगरेजी तिथि के अनुसार १८५५ ई० की ३१ वीं मई थी। मन्दिर-प्रतिष्ठा के उपलक्ष में समस्त प्रांगण को रोशनी से सजाया गया था। काली-कीर्तन, भागवत-पाठ, रामायण-पाठ, धार्मिक नाटक-नौटंकी आदि ने समूचे प्रांगण को

मानो प्राणवन्त कर दिया था। ब्राह्मण-पण्डितों के सुललित मन्त्रोच्चार और मन्दिर के शंख-घंटा-घड़ियाल की ध्वनि ने उत्सव-मुखरित प्रांगण को मानो स्वर्गराज्य में परिणत कर दिया था। इस अनुष्ठान में एक लाख से भी अधिक ब्राह्मणों को आमंत्रित किया गया था। रासमणि ने प्रत्येक का यथायोग्य समादर किया। लक्षाधिक ब्राह्मणों की पदधूलि भी उन्होंने इकट्ठी कर रखी। मन्दिर के व्यय-निर्वाह के लिये इसी वर्ष के १४ भाद्र को उन्होंने दीनाजपुर जिले में २ लाख २६ हजार रुपये के तीन तालुके खरीदे। मृत्यु के मात्र एक दिन पूर्व उन्होंने इस सम्पत्ति को देवोत्तर सम्पत्ति में परिणत कर दिया था।

श्रीरामकृष्ण देव के अग्रज श्री रामकुमार काली-मन्दिर के पुरोहित होकर आये। भैया के साथ गदाधर भी आये। भावविभोर हो गदाधर गीत गाते और तन्मय होकर रासमणि सुनतीं। कालान्तर में एक दिन गदाधर काली-मन्दिर के पुजारी हो गये। गदाधर भावविह्वल होकर पूजा करते। कभी 'माँ! माँ!' कहते हुए रोते, कभी अपनी धुन में हँसते। मन्दिर के व्यवस्थापकों ने रासमणि से शिकायत की—'छोटा भट्टाचार्य पागल है, उसने मन्दिर को कलुषित कर दिया है।' रासमणि ने मथुरबाबू को भेजा। मथुरबाबू ने विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से इस पुजारी की अपूर्व पूजा देखी। उन्होंने आज्ञा दे दी—'छोटे भट्टाचार्य को कोई

तंग न करे।' एक दिन गदाधर की देह में मथुरबाबू को अपूर्व दर्शन हुआ। एक ही देह में उन्होंने शिव और काली को देखा। बस, दौड़कर गदाधर के दोनों चरण पकड़ लिये और रोते-रोते करुणा की भिक्षा माँगी। एक दिन रासमणि काली-मन्दिर के बाहर बैठकर गदाधर का गाना सुन रही थीं किन्तु मन लगा था संसार-चिन्ता में। गदाधर लपककर बाहर आये और रासमणि के मुँह पर एक तमाचा जड़ दिया; कहा, "यहाँ आकर भी संसार-चिन्ता ?" रासमणि को मनुष्य पहचानने में देर न लगी। भक्तिपूर्वक उनके दोनों चरणों में प्रणाम कर वे धीरे-धीरे मन्दिर-प्रांगण छोड़-कर चली गयीं।

गदाधर की कठिन तपस्या प्रारम्भ हुई। पाषाण के सम्मुख खड़ा था रक्त-मांस का मानव। कण्ठ में था आकुल निवेदन और अन्तर में शुद्धा भक्ति। आखिर पाषाण का हृदय भी पिघला। भक्त विजयी हुआ। मृण्मयी मूर्ति उसके लिए चिन्मयी बन गयी। दिग्-दिगान्तर में भक्त का नाम फैल गया। भक्तिरस की पुनीत मन्दाकिनी में स्नान कर गदाधर श्रीरामकृष्ण के रूप में प्रकट हुए। दल के दल लोग उनके पास आने लगे——साधु-संन्यासी आये, भक्त आये, और अपार विस्मय से उन्होंने इस नर-देहधारी नारायण को देखा।

मन्दिर-प्रतिष्ठा के पश्चात् रासमणि ने वैषयिक चिन्ता का त्याग कर दिया था। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य

में, उनके उपदेश और संगीत सुनकर रासमणि के दिन आनन्द से कट जाते। उनके अनन्य धर्म-भाव के कारण श्रीरामकृष्ण भी उन पर श्रद्धा करते। वे कहा करते– 'अरे! हमारी रानी माँ जगदम्बा की आठ सखियों में से एक है।'

अत्यधिक शारीरिक कठोरता के कारण रासमणि का स्वास्थ्य गिरने लगा। उदर-रोग के लक्षण दीख पड़े। चिकित्सकों ने वायु-परिवर्तन का परामर्श दिया। किन्तु रानी मन्दिर को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाने को तैयार नहीं थीं। अनेक अनुरोध के पश्चात् कालीघाट के काली-मन्दिर के समीप अपने निवास-स्थान में आने को वे राजी हुईं। पर शरीर टूटता ही गया। अन्त में मर्त्यधाम में विधाता द्वारा निर्दिष्ट अपना कर्तव्य समाप्त कर, १८६१ ई० की १९ वीं फरवरी को रासमणि ने इस नश्वर देह का त्याग कर दिया। जिस अध्याय का प्रारम्भ उनके जन्म के साथ हुआ था, आज वह समाप्त हो गया।

पाप-दग्ध तमिस्रा में जब समस्त जगत् कलुषित था तब करुणामयी रासमणि के निष्कलुष हाथों ने प्रदीप-शिखा प्रज्वलित की। उसका स्निग्ध आलोक चारों ओर फैल गया और वह एक अनामी भक्त को पथ दिखाकर रासमणि द्वारा प्रतिष्ठित पाषाण-मन्दिर में ले आया। भक्त के आकुल आह्वान से पाषाण-मन्दिर के द्वार खुल गये। मृण्मयी मूर्ति चिन्मयी रूप में उद्भासित

हो उठी। विश्व के मानवों ने अपूर्व भावावेश में विभोर इस विलक्षण पुरुष को विस्मित होकर देखा, जिसका अन्तर्बाह्य एकाकार हो उठा था। और देखा त्याग तथा करुणा की प्रतिमूर्ति एक महिमामयी महिला को, जिसका पुण्य-प्रताप स्वर्ग के भगवान् को मर्त्यलोक की वसुन्धरा पर उतार लाया था। उस दिन का वह क्षुद्र प्रदीप का स्निग्ध आलोक आज देश-काल की सीमा को पार कर दूर-दूर तक फैल गया है, उसने ताप-तप्त मानव को अपने अमृत-स्पर्श से शीतल किया है और उसे सर्व-धर्म-समन्वय का अमोघ सन्देश सुनाया है।

●

प्रत्येक सफल मनुष्य के स्वभाव में कहीं न कहीं असामान्य ईमानदारी और सच्चाई छिपी रहती है और उसीके कारण उसे जीवन में इतनी सफलता मिलती है। वह पूर्णतया स्वार्थहीन न रहा हो, पर वह उसकी ओर अग्रसर होता रहा था। यदि वह सम्पूर्ण रूप से स्वार्थहीन होता, तो उसकी सफलता वैसी ही महान् होती, जैसे बुद्ध या ईसा की। सर्वत्र निःस्वार्थता की मात्रा पर ही सफलता की मात्रा निर्भर रहती है।

—स्वामी विवेकानन्द

योग की वैज्ञानिकता—५

डा. अशोक कुमार बोरदिया

१४

चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध में सामान्य चर्चा करने के बाद अब प्रत्येक वृत्ति के बारे में विस्तार से विचार करें। हम कह चुके हैं कि प्रमाण और विपर्यय ये दो वृत्तियाँ ऐसी हैं जो विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होने से उत्पन्न होती हैं, अतः वैषयिक (Objective) हैं। इसलिए इन दोनों का विवेचन एक साथ किया जायेगा।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।। ७ ।।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ।। ८ ।

पातंजल-योगसूत्र के प्रथम अध्याय समाधिपाद के उपर्युक्त सातवें सूत्र में पतंजलि ने तीन प्रकार के प्रमाण बतलाये हैं——प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण। चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त वस्तुविशेष की संवेदना के मस्तिष्क में पहुँचने पर जो विषय के अनुरूप चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्षप्रमाण-वृत्ति कहते हैं। वस्तुविशेष का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना केवल लक्षणों के माध्यम से जब विषय के अनुरूप वृत्ति का जन्म होता है, तब उसे अनुमानप्रमाण-वृत्ति कहते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त वस्तु की सत्य धारणा आप्त वाक्यों को सुनने अथवा आगमों को पढ़ने

से भी हो सकती है। इसे आगम-प्रमाण-वृत्ति कहते हैं। एक सरल उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा।

हम एक मोटर को देखते हैं; नेत्रों के माध्यम से मोटर की संवेदना चित्त में जाती है और वहाँ मोटररूपी वृत्ति का उदय होता है, जो सत्य से भिन्न नहीं होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण कहलायेगा। यदि हम मोटर को न भी देखें, तो भी, उसके हार्न को सुनने से, अथवा उसके दरवाजे की आवाज से हमारे चित्त पर मोटरविशेष का चित्र अंकित हो सकता है। चूँकि हमने मोटर की ध्वनि आदि लक्षणों के द्वारा मोटर का अनुमान किया जो सत्य से भिन्न नहीं है, इसलिये इसे अनुमान प्रमाण की संज्ञा दी जायेगी। किन्तु यह भी तो सम्भव है कि मोटर का ड्राइवर हमसे कहे कि मोटर खड़ी है, और बिना मोटर को देखे अथवा उसके किसी लक्षण से परिचित हुए ही, उसके कहने पर विश्वास कर, हमारे चित्त में मोटर का चित्र खिंच जाय। जानकार व्यक्ति के कथन पर आधारित होने के कारण इसे आगमप्रमाण-वृत्ति कहा जायेगा। हाँ, इन तीनों अवस्थाओं में हमारे चित्त में उत्पन्न मोटररूपी वृत्ति का यथार्थ मोटर के समान होना अनिवार्य है, अन्यथा वह विपर्यय की श्रेणी में आ जायेगी। यहाँ पर हमने 'आगम' शब्द का अर्थ 'अभिज्ञ व्यक्ति का कथन' इस प्रकार किया है, उसके शास्त्रीय अर्थ का विवेचन बाद में किया जायेगा।

१५

उपर्युक्त तीनों प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे अधिक

महत्त्वपूर्ण है तथा अन्य दोनों प्रमाणों का आधार भी वही है। हम अनुमान भी उसी वस्तु का कर सकते हैं, जिसका कभी न कभी प्रत्यक्षीकरण किया हो, तथा उसी व्यक्ति के वाक्यों को प्रमाण माना जा सकता है, जिसे वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव हो।

इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क में आने से लेकर ज्ञान-प्राप्ति तक की समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। यहाँ केवल यह उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदना के मस्तिष्क में पहुँचने तथा तदनुरूप वृत्ति के उदय होने मात्र से प्रत्यक्षीकरण या ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो जाती। उस वृत्ति का अर्थ लगाना, पूर्व अनुभवों के आधार पर उसका वर्गीकरण करना एवं अनुभव-कर्ता से उस विषय का सम्बन्ध स्थापित करना–– इस सबका जब तक निर्णय नहीं हो जाता तब तक वह ज्ञान में परिणत नहीं होती। इसी के आधार पर पाश्चात्य मनोविज्ञान में प्रत्यक्षीकरण (Perception) की प्रक्रिया को दो भागों में विभक्त किया गया है[1] :––

(१) Presentation (उपस्थिति करण) अथवा Actual Sensation (मुख्य संवेदना)––इसमें हमारे अन्तःकरण के सम्मुख संवेदना उपस्थित होती है, जो इन्द्रियों एवं स्नायुओं के माध्यम से वहाँ तक पहुँचती है।

---

[1] सामान्य मनोविज्ञान––लेखक डॉ. एस. एस. माथुर, चतुर्थ संस्करण १९७०, पृष्ठ २३३-२४८।

(२) Representation (प्रतिरूपक) या Revived Sensation—— मस्तिक पर मुख्य संवेदना के आघात के फलस्वरूप जो संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें प्रतिरूपक कहते हैं।

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया का और भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है : उनके अनुसार, attention (एकाग्रता), discrimination (प्रस्तुत संवेदना को विपरीत संवेदना से पृथक् करना), assimilation (प्रस्तुत संवेदना को पहले की समान संवेदनाओं के साथ मिलाना), past experience (पूर्वानुभव), memory (स्मृति), objectification and localization (देश और काल की धारणा) ये समस्त अंग इन्द्रियजन्य संवेदना के आधार पर प्रत्यक्ष ज्ञानप्राप्ति के लिये आवश्यक हैं।

आधुनिक शरीर-रचना और व्यवहार-विज्ञान (Anatomy and Physiology) के अनुसार मस्तिष्क में अनेक Association Areas (साहचर्य केन्द्र) होते हैं, जो उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ करते हैं तथा जिनका उल्लेख पिछले लेख में किया जा चुका है। इन केन्द्रों अथवा इनके स्नायविक सम्बन्धों के रोगग्रस्त हो जाने पर रोगी इन्द्रियों की सहायता से यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता तथा उसमें रोचक लक्षण पैदा हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, Nominal Aphasia (नामिनल एफेसिया) नामक रोग में वह पेन्सिल, माचिस पुस्तक आदि वस्तुओं को पहचान तो लेता है तथा उनका क्या उपयोग है यह भी जान लेता है,

किन्तु उनका नाम भूल जाता है—याद करने पर भी वह सफल नहीं हो पाता। कभी कभी इन सामान्य उपयोग की वस्तुओं को देखकर वह पहचान तो लेता है, नाम भी बता देता है, किन्तु किस काम में वे आती हैं यह नहीं कह पाता। कभी कभी वह वस्तुओं को पहचानने में भी असमर्थ हो जाता है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान की प्रक्रिया के बारे में किये गये उपर्युक्त वृत्तान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्षीकरण (Perception) विशेषकर दो बातों पर आधारित होता है—एक अनुभव करनेवाले का मन और दूसरा वस्तु-विशेष, जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। पाश्चात्य मनोविज्ञान ने इन घटकों का विस्तार से अध्ययन किया है।

१६

लक्षण से लक्ष्य का तथा साधन से साध्य का ज्ञान प्राप्त करने को अनुमान कहते हैं, और जब यह ज्ञान सत्य के अनुरूप होता है, तब वह अनुमान-प्रमाण कहलाता है। सांख्य दर्शन में तीन प्रकार के अनुमान-प्रमाण माने गये हैं[1]—

(१) पूर्ववत्—जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान लगाया जाय, जैसे बादलों को देखकर होनेवाली वर्षा का अनुमान लगाना।

(२) शेषवत्—जहाँ कार्य से कारण का अनुमान

[1] पातंजल-योगप्रदीप : लेखक—स्वामी ओमानन्द तीर्थ, पृष्ठ १५८

लगाया जाये; जैसे नाले में मटमैले पानी को देखकर यह अनुमान लगाना कि वर्षा हुई थी। ये दोनों अनुमान लक्ष्य-लक्षण-साहचर्य पर आधारित हैं।

(३) सामान्यतोदृष्ट---जो सामान्य रूप से देखा गया हो, किन्तु विशेष रूप से न देखा गया हो। दूसरे शब्दों में, सामान्य नियम से विशेष का अनुमान लगाना; जैसे मिट्टी से बने घड़े को देखकर उसके बनानेवाले कुम्हार का अनुमान लगाना, क्योंकि सामान्यतः प्रत्येक बनी हुई वस्तु का कोई चेतन निमित्त कारण देखा जाता है।

कुछ विभिन्न मतावलम्बी आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण के अतिरिक्त उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव आदि कुछ और प्रमाण भी मानते हैं। किन्तु विश्लेषण करने पर उन सबको प्रथम तीन में से किसी न किसी प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। अतः यहाँ उनका विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है।

१७

आगम-प्रमाण और आप्त वचनों पर फिलहाल विचार न करके, आइये, पहले विपर्यय का अध्ययन कर लें, क्योंकि एक तो विपर्यय का विषय प्रत्यक्ष-प्रमाण से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है, और दूसरे, विपर्यय को समझने के बाद आगम-प्रमाण और आप्त वाक्यों के महत्त्व को हम और भी स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।

आठवें सूत्र में विपर्यय की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि विपर्यय मिथ्या ज्ञान है, जो उस पदार्थ के,

जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है, वास्तविक रूप पर प्रतिष्ठित नहीं है। सरल भाषा में, वस्तु जैसी है, उसका यथार्थ रूप जैसा है, उससे भिन्न अनुभव होना विपर्यय कहलाता है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। रस्सी के बदले साँप देखना, अँधेरे में झाड़ी को भालू समझना, रेगिस्तान में जल के नितान्त अभाव में पानी देखना (मृगतृष्णा), इत्यादि। विपर्यय का एक और लक्षण यह है कि सत्य का ज्ञान हो जाने पर उसका नाश हो जाता है। एक बार यह ज्ञान हो जाय कि वह रस्सी है, साँप नहीं, तो फिर व्यक्ति भ्रमित अथवा भयभीत नहीं होगा।

भारतीय मनोविज्ञान विपर्यय के तीन मूल कारण बतलाता है—(१) विषय-दोष, (२) इन्द्रिय-दोष और (३) मनोदोष ‡।

(१) विषय-दोष—चलती हुई रेल से बाहर की वस्तुओं का दौड़ते हुए नजर आना तथा मृगतृष्णा आदि विषय-दोष के उदाहरण हैं।

(२) इन्द्रिय-दोष—पीलिया के रोगी को वस्तुएँ पीली नजर आती हैं। नेत्र के एक रोग (Diplopia) में वस्तुएँ दो-दो दिखायी देती हैं।

(३) मनोदोष—भय, चिन्ता आदि से मन के आक्रान्त अथवा असावधान या अस्थिर होने पर वस्तुएँ अपने वास्तविक रूप में न दिखकर भिन्न दीखती हैं।

‡ पातंजल-योग-प्रदीप—लेखक ओमानन्द तीर्थ, पृष्ठ १५८।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार विपर्ययों को दो में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) व्यापक विपर्यय—इस विपर्यय के शिकार सभी व्यक्ति होते हैं। विषय-दोष के कारण उत्पन्न समस्त विपर्यय इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। रेगिस्तान में पानी का दिखायी देना, चलती रेल से बाहर की वस्तुओं का भागती प्रतीत होना, तथा एक आड़ी रेखा पर उसी लम्बाई की दूसरी खड़ी रेखा का बड़ी दिखायी देना आदि रेखा-गणित के समस्त विपर्यय व्यापक विपर्यय के उदाहरण हैं। ये विपर्यय वास्तविकता का ज्ञान होने के बावजूद भी बने रहते हैं।

(२) व्यक्तिगत विपर्यय—ये विपर्यय सबको नहीं होते, व्यक्तिविशेष को ही होते हैं। मानसिक झुकाव, भय, चिन्ता, व्यक्तिगत आदत आदि पर निर्भर रहने के कारण ये अस्थायी होते हैं तथा वस्तुस्थिति का सही ज्ञान प्राप्त होने पर या मनोदोष के दूर हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, रस्सी में साँपका भ्रम सबको नहीं होता, किसी किसी को ही होता है। व्यक्तिगत विपर्यय का एक लक्षण यह भी है कि वह अलग अलग व्यक्ति में उसके मानसिक झुकाव के अनुसार अलग अलग होता है।

विपर्यय का मनोवैज्ञानिक विवेचन करने के बाद इस विषय पर दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विचार अगले लेख में किया जायेगा।

❀

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

१. समदर्शिता

स्वामी विवेकानन्दजी को संन्यास ग्रहण किये अभी कुछ ही समय हुआ था। वे विभिन्न स्थानों की यात्रा कर रहे थे। इस प्रवास के दौरान जब वे आगरा से वृन्दावन के समीप पहुँचे ही थे कि उन्हें सड़क के किनारे एक व्यक्ति निश्चिन्त होकर तम्बाकू पीता हुआ दिखायी दिया। प्रवास से क्लान्त हुए स्वामीजी ने उस व्यक्ति की ओर हाथ बढ़ाकर चिलम माँगी। वह व्यक्ति भयभीत हो संकोच के साथ बोला, "महाराज, मैं भंगी हूँ!" स्वामीजी का हाथ, अनजाने ही एकदम पीछे हट गया और वे आगे बढ़ गये।

अकस्मात् उनके पैर ठिठक गये। उन्हें ज्ञान हुआ—"अरे, यह क्या? मैंने तो जाति, कुल, मान आदि सभी का त्याग करके संन्यास ग्रहण किया है, फिर भंगी जानकर मेरा सोता हुआ जाति-अभिमान क्यों जाग उठा? उस भंगी की चिलम मैं क्योंकर न ले सका? अभ्यास-जनित संस्कारों का कैसा अद्भुत प्रभाव है यह!" वे तुरन्त उस आदमी की ओर लौट पड़े और उन्होंने प्रेमपूर्वक उससे चिलम भरवाकर आनन्दपूर्वक धूम्रपान किया।

अपने शिष्यों को यह समझाने के लिए कि आत्माभिमान-शून्य होकर सब लोगों के प्रति समानता के कठिन आदर्श का पालन कितनी सतर्कता के साथ करना पड़ता है, वे इस घटना का जिक्र किया करते थे।

२. मन चंगा, तो कठौती में गंगा

एक बार स्वामी रामदासजी भिक्षा माँगते हुए एक घर के सामने खड़े हुए और उन्होंने आवाज लगायी-- "रघुवीर समर्थ !" घर की स्त्री बाहर आयी। उसने उनकी झोली में भिक्षा डाली और कहा, "महात्माजी, कोई उपदेश दीजिये !"

स्वामीजी बोले, "आज नहीं, कल दूंगा।"

दूसरे दिन स्वामीजी ने पुनः उस घर के सामने आवाज लगायी--"रघुवीर समर्थ !" उस घर की स्त्री ने उस दिन खीर बनायी थी, जिसमें बादाम-पिस्ते भी डाले थे। वह खीर का कटोरा लेकर बाहर आयी। स्वामीजी ने अपना कमंडल आगे कर दिया। वह स्त्री जब खीर डालने लगी, तो उसने देखा कि कमंडल में गोबर और कूड़ा भरा पड़ा है। उसके हाथ ठिठक गये। बोली, "महाराज, यह कमंडल तो गन्दा है।"

स्वामीजी बोले, "हाँ, गन्दा तो है। किन्तु खीर इसमें डाल दो।"

स्त्री बोली, "नहीं महाराज, तब तो खीर खराब हो जायेगी। दीजिये यह कमंडल, मैं इसे शुद्ध कर लाती हूँ।"

स्वामीजी बोले, "मतलब जब यह कमंडल साफ हो जायेगा, तभी खीर डालोगी न ?"

स्त्री ने उत्तर दिया, "जी हाँ !"

स्वामीजी बोले, "मेरा भी यही उपदेश है। मन में जब तक चिन्ताओं का कूड़ा-करकट और बुरे संस्कारों का गोबर भरा है, तब तक उपदेशामृत का कोई लाभ न होगा। यदि उपदेशामृत पान करना है, तो प्रथम अपने मन को शुद्ध करना चाहिए, कुसंस्कारों का त्याग करना चाहिए, तभी सच्चे सुख और आनन्द की प्राप्ति होगी।"

३. सेवा और पावनता

दशम सिक्ख गुरु गोविन्दसिंहजी आनन्दपुर साहिब में विराजमान थे। उन्हें तृषा का अनुभव हुआ, तो बोले, "कोई मुझे पवित्र हाथों से जल पिलाये।" एक सम्भ्रान्त व्यक्ति उठा और जल ले आया। जलपात्र लेते समय गुरुजी का स्पर्श उस व्यक्ति के हाथ से हो गया। वे पूछ बैठे, "तुम्हारे हाथ इतने कोमल क्यों हैं ?" वह अपनी प्रशंसा समझ फूला न समाया। बोला, "गुरुजी, मेरे अनेक सेवक हैं। मैं स्वयं कोई कार्य नहीं किया करता, इसलिए मेरे हाथ इतने कोमल हैं।"

गुरुजी ने अधरों तक लाये हुए जलपात्र को नीचे रख दिया और वे गम्भीर स्वर में बोले, "जिन हाथों ने कभी सेवा ही न की, वे पवित्र कैसे हुए ? पवित्रता

तो सेवा से ही प्राप्त होती है । मैं तुम्हारे हाथ का जल ग्रहण नहीं कर सकता ।"

वह व्यक्ति शर्मिन्दा हो गया और उसने गुरुजी को वचन दिया कि वह न केवल अपने कार्य स्वयं किया करेगा, वरन् अब दूसरों की सेवा भी किया करेगा ।

४. मन के हारे हार है . . .

कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ, जो आगे चलकर 'गौतम बुद्ध' हुए और जिन्होंने 'बौद्ध धर्म' की स्थापना की, गृह त्यागकर निकले, तो बोध की खोज में काफी भटके । आखिर उनकी हिम्मत टूटने लगी । उनके मन में यह विचार बार-बार उठने लगा कि क्यों न वापस राजमहल चला जाय, और अन्त में एक दिन वे कपिल-वस्तु की ओर लौट ही पड़े । चलते-चलते राह में उन्हें प्यास लगी । सामने ही एक झील थी । वे उसके किनारे गये, तभी उनकी दृष्टि एक गिलहरी पर पड़ी । गिलहरी कोई दुर्लभ जीव नहीं, किन्तु उस गिलहरी की चेष्टाओं ने सिद्धार्थ का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। बात यह थी कि वह गिलहरी बार-बार पानी के पास जाती, अपनी पूँछ उसमें डुबोती और उसे निकालकर रेत पर झटक देती ।

सिद्धार्थ से न रहा गया । वे पूछ ही बैठे, "नन्ही गिलहरी, यह क्या कर रही हो तुम ?"

"इस झील को सुखा रही हूँ," उसने उत्तर दिया ।

"यह काम तो तुमसे कभी न हो पायेगा," सिद्धार्थ

बोले, "भले ही तुम हजार बरस जियो और करोड़ों-अरबों बार अपनी पूँछ पानी में डुबाकर झटको, किन्तु झील को सुखाना तुम्हारे बस की बात नहीं।"

"तुम्हीं ऐसा मानो, मैं नहीं मानती। मैं तो यह जानती हूँ कि मन में जिस कार्य को करने का निश्चय किया, उस पर अटल रहने से वह हो ही जाता है। मैं तो अपना काम करती रहूँगी।" और वह अपनी पूँछ डुबोने झील की ओर चल पड़ी।

गिलहरी की बात सिद्धार्थ के हृदय में गड़ गयी। उन्हें अपने मन की निर्बलता महसूस हुई। वे वापस लौटे और फिर तप में निरत हो गये।

●

आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि मानवजाति की गति सदैव एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर रही है; असत्य से--भ्रम से सत्य एवं यथार्थ की ओर नहीं; या यदि आप इसी भाव को अन्य शब्दों में व्यक्त करना पसन्द करें, तो मानवजाति निरन्तर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर प्रयाण करती है, असत्य से सत्य की ओर नहीं।

स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

अपनी पश्चिमांचल यात्रा के लिए स्वामीजी २० नवम्बर को शिकागो से रवाना हुए। शिकागो से १३५ मील दूर मैडिसन में उनका व्याख्यान आयोजित किया गया था। व्याख्यान की रिपोर्ट २१ नवम्बर के 'विस्कॉन्सिन स्टेट जर्नल' में इस प्रकार प्रकाशित हुई– "पिछली रात कांग्रेगेशनल चर्च (मैडिसन) में विख्यात हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द द्वारा प्रदत्त भाषण अत्यन्त रोचक था। उसमें ठोस दर्शन और श्रेष्ठ धर्म की बहुत सी बातें थीं। भले वे मूर्तिपूजक हो सकते हैं, पर ईसाई धर्म उनके द्वारा प्रदत्त अनेक शिक्षाओं का अनुसरण कर सकता है। उनका धर्म विश्व की तरह व्यापक है जिसमें सभी धर्मों तथा सभी स्थानों से प्राप्त सत्यों का समावेश है। उन्होंने इस बात की घोषणा की कि 'भारतीय धर्मों, में धर्मान्धता, अन्धविश्वास और सारहीन विधि-विधान को कोई स्थान नहीं है।"

मैडिसन से वे मिनियापॉलिस पहुँचे। वहाँ उन्होंने हिन्दू धर्म पर व्याख्यान दिया। व्याख्यान पर टिप्पणी करते हुए वहाँ के स्थानीय पत्र 'मिनियापॉलिस स्टार' ने लिखा– "पिछली शाम को फर्स्ट यूनिटेरियन चर्च (मिनियापॉलिस) में स्वामी विवेकानन्द के भाषण का

विषय 'हिन्दूधर्म' था। सूक्ष्म आकर्षण से युक्त तथा प्राचीन एवं सनातन सिद्धान्तों के मूर्तरूप इस धर्म की व्याख्या ने श्रोताओं का ध्यान गहरी तन्मयता से अपनी ओर केन्द्रित रखा। यह ऐसे श्रोताओं का समुदाय था, जिसमें विचारशील स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे, क्योंकि वक्ता 'पेरिपैटेटिक्स' द्वारा आमंत्रित किये गये थे। श्रोताओं में विभिन्न श्रेणियों के पादरी, विद्वज्जन तथा विद्यार्थी भी सम्मिलित थे। विवेकानन्द एक ब्राह्मण साधु हैं और वे मंच पर अपने देश की पोशाक पहने हुए थे--सिर पर पगड़ी, कमर पर लाल बन्द से कसा हुआ नारंगी रंग का कोट तथा लाल अधोवस्त्र।

"उन्होंने धीरे धीरे पर स्पष्ट बोलते हुए तथा शरीर की अंगभंगी की अपेक्षा वाणी की सौम्यता के द्वारा अपने श्रोताओं को क़ायल करते हुए अपने धर्म को पूरी ईमानदारी के साथ सामने रखा। उनके शब्द सावधानी से चुने हुए थे और प्रत्येक शब्द अपना अर्थ प्रत्यक्ष ही व्यक्त करता था। उन्होंने हिन्दू धर्म के सरलतम सत्यों को प्रस्तुत किया और यद्यपि ईसाई धर्म के प्रति कोई कड़ी बात नहीं कही, फिर भी उसकी ओर ऐसे संकेत अवश्य किये जिससे ब्रह्म का धर्म सर्वोपरि निरूपित हुआ। हिन्दू धर्म का सर्वव्यापी विचार और प्रमुख सिद्धान्त आत्मा का अन्तर्निहित दिव्यत्व है। आत्मा पूर्ण है और धर्म मनुष्य में पहले से ही विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति है। वर्तमान क्या है? वह

अतीत और भविष्य के बीच तथा मनुष्य की दो प्रवृत्तियों के बीच एक विभाजन रेखा मात्र है। यदि सत्प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं, तो मनुष्य उच्चतर लोक प्राप्त करता है और यदि असत्प्रवृत्तियाँ शक्तिशाली होती हैं तो उसका पतन होता है। उसके भीतर ये दोनों प्रवृत्तियाँ निरन्तर क्रियाशील हैं। जो कुछ उसे उठाता है वह शुभ है और जो उसे नीचे गिराता है, वह अशुभ है। कानन्द कल प्रातःकाल 'फर्स्ट यूनिटेरियन चर्च' में भाषण देंगे।"

प्रात:काल के भाषण की रिपोर्ट विस्तृत रूप से 'मिनियापॉलिस जर्नल' के २७ नवम्बर के अंक में इस प्रकार प्रकाशित हुई :—

कल यूनिटेरियन चर्च श्रोताओं से खचाखच भरा था। लोग ब्राह्मण धर्मोपदेशक स्वामी विवेकानन्द के प्राच्य-धर्म सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए उत्सुक थे। उन्होंने गत ग्रीष्मकाल में शिकागो की विश्वधर्म-महासभा में सुख्याति अर्जित की थी।...वे प्लेटफार्म पर आये और शीघ्र ही एक हिन्दू कहानी के द्वारा श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर लिया। उनकी अंग्रेजी भाषा अति श्रेष्ठ है। उन्होंने कहा—"मैं आपको पाँच अन्धों की कथा कहूँगा। भारत के एक गाँव में जुलूस निकला। सब लोग जुलूस को, विशेषकर सजे हुए हाथी को देखने टूट पड़े। लोग उसकी सजावट देख बड़े प्रसन्न हुए। पर चूँकि पाँचों अन्धे देखने में असमर्थ थे इसलिए उन्होंने

छूकर ही यह जानने का निश्चय किया कि हाथी कैसा है। उन्हें इसका अवसर दिया गया। जुलूस निकल जाने के बाद वे अन्य लोगों के साथ घर लौटे। वे हाथी के बारे में बातें करने लगे। एक ने कहा, 'वह तो एक दीवाल-जैसा था!' 'नहीं, वह वैसा नहीं था,' दूसरा बोल उठा, 'वह तो रस्सी-जैसा था।' इतने में तीसरे ने कहा, 'अरे नहीं! तुम्हें भी गलतफहमी हुई, मैंने महसूस किया वह तो साँप-जैसा था।' बहस ने उग्रता का रूप धारण किया। चौथे ने अपनी राय दी कि वह तकिया-जैसा था। तर्क न शीघ्र वाक्-युद्ध का रूप धारण कर लिया और पाँचों आदमी आपस में लड़ने लगे। तभी एक आँखों वाला आदमी वहाँ आ पहुँचा और उसने पूछा, 'भाइयो, बात क्या है?' वाद-विवाद का कारण उसे बतलाया गया। आगन्तुक ने कहा, 'भले आदमियो! तुम लोग सभी सही हो। मुश्किल यह है कि तुम लोगों ने हाथी को अलग अलग जगह पर छुआ है। दीवाल उसका बाजू है, रस्सी उसकी पूँछ है, साँप उसकी सूँड़ है तथा तकिया उसका पैर है। लड़ना बन्द करो, तुम सभी सही हो, अन्तर इतना ही है कि तुम लोगों ने हाथी को अलग अलग दृष्टिकोणों से देखा है।'"

उन्होंने कहा, "धर्म ठीक इसी प्रकार झगड़े में पड़ा हुआ है। पश्चिम के लोग सोचते हैं कि उनका ईश्वरीय धर्म ही धर्म है। पूर्व के लोगों में भी यही पूर्वग्रह विद्यमान है। किन्तु दोनों ही गलत हैं। ईश्वर प्रत्येक

धर्म में है।"

पाश्चात्य विचारधारा की उन्होंने प्रखर आलोचना की। उन्होंने ईसाइयों को व्यावसायिक धर्मवाला बतलाया। वे ईश्वर से हमेशा भीख ही माँगते हैं--"हे प्रभो, मुझे यह दो, मुझे वह दो; हे प्रभो! मेरे लिए यह कर दो, वह कर दो।" हिन्दू यह समझ ही नहीं पाता। उन्होंने कहा कि ईश्वर से भीख माँगना उचित नहीं। धार्मिक व्यक्ति के लिए माँगने की अपेक्षा देना उचित है। उन्होंने अनुभव किया कि पश्चिम के बहुत से लोग ईश्वर के बारे में विचार करते तो हैं पर तभी तक जब तक उनकी जीवनगाड़ी ठीक चलती है। परन्तु जब विपरीत अवस्था होती है तब ईश्वर भुला दिया जाता है। हिन्दू के साथ ऐसी बात नहीं। वह ईश्वर को प्रेम का प्रतिरूप मानता है। हिन्दू-धर्म ईश्वर के मातृभाव और पितृभाव दोनों पर विश्वास करता है। पर पहले पर अधिक, क्योंकि वह प्रेम की पूर्णता का अधिक उत्तम प्रतीक है। एक पाश्चात्य ईसाई हफ्ते भर डालर के लिए मेहनत करता है। और जब वह सफल हो जाता है तब प्रार्थना करता है--'हे प्रभो, हम आपको धन्यवाद देते हैं कि आपने हमें यह लाभ प्रदान किया।' और फिर वह सारा धन अपनी जेब के हवाले करता है। हिन्दू पैसा कमाता है पर उसे गरीबों और आर्तों की सहायता के रूप में मानो ईश्वर को समर्पित कर देता है। इस प्रकार उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य भावधाराओं

के बीच तुलना प्रस्तुत की। ईश्वर के बारे में बोलते हुए उन्होंने सारांश में कहा, "तुम पश्चिम के लोग सोचते हो कि तुमने ईश्वर को पा लिया है। पर यह ईश्वर पाना है क्या ? अगर तुमने उसे पा लिया, तो फिर क्या कारण है कि यहाँ इतना अधिक अपराध विद्यमान है ? क्या कारण है कि दस में से नौ व्यक्ति पाखण्डी है। जहाँ ईश्वर है वहाँ पाखण्ड नहीं रह सकता। तुम्हारे पास ईश्वर की पूजा के लिए भव्य इमारतें हैं तथा तुम हफ्ते में थोड़े समय के लिए वहाँ उपस्थित भी होते हो, पर ऐसे कितने हैं जो वहाँ भगवान् की पूजा के निमित्त जाते हैं ? चर्च जाना तो पश्चिम में फैशन है और तुममें से अधिकांश वहाँ बिना किसी उद्देश्य के ही जाते हैं। फिर तुम पश्चिम के निवासियों को यह दावा करने का क्या अधिकार है कि तुमने ही एकमात्र ईश्वर को पाया है ?"

बीच बीच में हर्ष-ध्वनि के कारण वक्ता को रुकना पड़ा। वे बोले, "हम हिन्दू धर्मवाले प्रेम के लिए ईश्वर की पूजा पर विश्वास करते हैं—इसलिए नहीं कि वह हमें क्या देता है पर इसलिए कि वह प्रेमस्वरूप है। और देखो, कोई भी राष्ट्र, कोई भी समाज, कोई भी धर्म ईश्वर को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह मात्र प्रेम के लिए उसकी पूजा करने को राजी न हो। तुम पाश्चात्यवासी व्यापार में व्यावहारिक हो, बड़े बड़े आविष्कारों में कुशल हो, पर हम प्राच्यवासी

धर्म में व्यावहारिक हैं। तुम वाणिज्य को अपना व्यवसाय बनाते हो और हम धर्म को अपना व्यवसाय बनाते हैं। तुम यदि भारत में जाओ और खेत में काम करनेवाले किसी किसान से बातें करो, तो देखोगे कि उसकी राजनीति के बारे में कोई धारणा नहीं है, वह राजनीति के बारे में कुछ नहीं जानता। पर उससे धर्म के बारे में बात करो, देखोगे एक अदना-सा व्यक्ति भी धर्म के अद्वैतवाद, द्वैतवाद, और जाने कितने वादों के बारे में जानता है। तुम उससे पूछो, 'तुम्हारी सरकार कौनसी है?' वह उत्तर देगा, 'मैं नहीं जानता। मैं अपना टैक्स पटाता हूँ और बस इतना ही उसके बारे में जानता हूँ।' मैंने तुम्हारे मजदूरों और किसानों से बातचीत की है और मैंने पाया है कि वे राजनीति में दखल रखते हैं। वे या तो डिमोक्रेट्स हैं अथवा रिपब्लिक। और वे जानते हैं कि उन्हें फ्री सिल्वर पसन्द है या गोल्डस्टैण्डर्ड। पर तुम उनसे धर्म के बारे में बातें करो, देखोगे उनका धार्मिक ज्ञान वैसा ही है जैसा भारतीय किसान का राजनीति का ज्ञान। वे नहीं जानते। वे किसी एक चर्च में जाते हैं पर यह नहीं जानते कि उसके सिद्धान्त क्या हैं। वे अपना चन्दा पटाते जाते हैं, और बस इतना ही वे उसके या ईश्वर के बारे में जानते हैं।"

उन्होंने भारत में व्याप्त अन्धविश्वास को स्वीकार किया और प्रश्न किया, "पर ये किस देश में नहीं हैं?" अन्त में समारोप करते हुए उन्होंने कहा—प्रत्येक

देश यह समझता है कि ईश्वर पर मात्र उसका ही एकाधिकार है। पर ईश्वर तो प्रत्येक देश का है और जहाँ भी शुभ की प्रेरणा है वहीं ईश्वर है। पश्चिम के लोगों को, और पूर्व के लोगों को भी, जो सीखना है वह है––'ईश्वर को पाने की चाह'। और इस चाह की तुलना उन्होंने उस मनुष्य से की जो पानी के अन्दर डूबा हुआ हवा की चाह के लिए छटपटाता है, क्योंकि वह उसके बिना नहीं रह सकता। जब पाश्चात्यवासी इसी उत्कटता से ईश्वर को पाने की चाहना करेंगे तभी भारत में उनका स्वागत होगा क्योंकि तब मिशनरी लोग ईश्वर से युक्त हो उनके पास पहुँचेंगे, न कि यह विचार लेकर कि भारत ईश्वर के बारे में जानता ही नहीं। तब वे हृदय में प्रेम लेकर आयेंगे, न कि धर्मान्धता।

मिनियापॉलिस से स्वामीजी उसी दिन बिना किसी विश्राम के २५० मील दूर स्थित डेस मोइन्स, आइवा के लिए रवाना हो गये। डेस मोइन्स में उन्होंने २७ नवम्बर को अपराह्न में 'भारतीयों के रीति-रिवाज' पर एक अनौपचारिक वार्ता दी तथा उसी दिन शाम को 'हिन्दू धर्म' पर व्याख्यान दिया जिसका सारांश यह था–– "पूर्ण ईसाई बनने के लिए मनुष्य को सभी धर्मों को स्वीकार करना चाहिए। जो एक धर्म में प्राप्त नहीं है उसकी पूर्ति दूसरे धर्म द्वारा हो जाती है। सच्चे ईसाई के लिए यह उचित और आवश्यक है।... मैं धर्म-परिवर्तन-जैसे विचार में विश्वास नहीं करता।...हमारे

देश में धर्म और सम्प्रदाय दो ऐसे शब्द हैं जिनका तात्पर्य इस देश में समझे जानेवाले अर्थ से बिल्कुल भिन्न है। हमारे मतानुसार, 'धर्म' कहने से इसके अन्तर्गत सभी धर्म आ जाते हैं। हम असहिष्णुता के अतिरिक्त सब कुछ सहन कर लेते हैं।..."

२८ नवम्बर को उन्होंने डेस मोइन्स में तीसरी वक्तृता दी थी जिसका विषय था 'पुनर्जन्म'। यद्यपि स्वामीजी डेस मोइन्स में थोड़े ही समय रहे पर इस अल्प काल में ही उन्होंने पूरे नगर में मानो बिजली फैला दी। उनकी विद्वत्ता, उनकी वक्तृत्व-शैली और सर्वोपरि उनके व्यक्तित्व ने वहाँ की जनता को विस्मय से अभिभूत कर दिया। वहाँ के पत्र 'आईवा स्टेट रजिस्टर' ने लिखा—"हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने डेस मोइन्स में तीन वक्तृताएँ दीं। खुशी की बात यह थी कि उन्होंने अपने सुदूर पश्चिम की यात्रा पीछे हटाकर यहाँ के निवास की अवधि बढ़ा दी जिससे शहर के गण्यमान्य व्यक्तियों को उनसे मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ और उन्होंने उनके पास आकर धर्म और अध्यात्म के प्रश्नों के समाधान में अपने समय का भलीभाँति सद्व्यय किया। पर उस व्यक्ति की तो शामत ही आ जाती जो उस संन्यासी से प्रतिस्पर्धा की भावना से बहस करता। उनके उत्तर बिजली की चमक की तेजी से निकलते और वह दुस्साहसी प्रश्नकर्ता निश्चित रूप से इस हिन्दू की तीक्ष्ण बुद्धि रूपी बर्छे की

चोट खा चारों खाने चित्त हो जाता। उनकी बुद्धि इतनी सूक्ष्म, इतनी तीक्ष्ण, इतनी समृद्ध तथा इतनी परिमार्जित थी कि वह कभी कभी श्रोताओं को चौंधिया देती, पर उसका रूप हमेशा बड़ा ही दिलचस्प रहता। उन्होंने कोई पीड़ा पहुँचानेवाली बात नहीं कही क्योंकि यह उनके स्वभाव के विरुद्ध था। जो उनसे घनिष्ठ रूप से परिचित हुए, उन्होंने पाया कि वे अत्यन्त विनम्र तथा प्रेम के योग्य हैं, बड़े सत्यनिष्ठ, निर्भीक और निष्कपट हैं। उन्होंने अपने प्रति दर्शाये गये अनेक सद्व्यवहारों के लिए सदैव कृतज्ञता प्रकट की। विवेकानन्द और उनके कार्य ने प्रत्येक सच्चे ईसाई के हृदय में घर बना लिया है।"

यह दुर्भाग्य की बात है कि इसके बाद से लेकर अगले वर्ष की जनवरी के मध्य तक स्वामीजी का कोई वृत्तान्त प्राप्त नहीं होता। निस्सन्देह इस बीच भी वे अत्यन्त व्यस्त ही रहे होंगे। इस अवधि में उन्होंने न जाने कितने लोगों को भेंट दी होगी, उनमें नवप्रेरणा का संचार किया होगा, न जाने कितनी वक्तृताएँ दी होंगी। वे सब अब विस्मृति के गर्भ में जा चुकी हैं। इस बीच लिखे पत्रों से पता चलता है कि किस अद्भुत रूप से उन्होंने अमरीकी जनमानस को समझा था तथा उनका खोजी मस्तिष्क किस प्रकार उनके सद्गुणों का कायल था। विशेषकर वे अमरीकी महिलाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उनकी सरलता, पवित्रता, निर्भीकता और आतिथ्य-परायणता ने स्वामीजी पर अमिट

छाप डाली थी। अमरीकी और भारतीय नारी-जीवन का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए उन्होंने श्री हरिपद मित्र को २८ दिसम्बर के पत्र में लिखा था--

"जैसी शिष्ट और शिक्षित महिलाएँ मैंने यहाँ देखीं, वैसी और कहीं नहीं देखीं। हमारे देश में सुशिक्षित पुरुष मिलेंगे पर अमेरिका-जैसी महिलाएँ मुश्किल से ही कहीं और दिखायी देंगी। यह बात सच है कि सच्चरित्र पुरुषों के घर में स्वयं देवियाँ वास करती हैं--या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु। मैंने यहाँ हजारों महिलाएँ देखीं जिनके हृदय हिम के समान पवित्र और निर्मल हैं अहा! वे कैसी स्वतंत्र होती हैं! सामाजिक और नागरिक कार्यों का वे ही नियंत्रण करती हैं। पाठशालाएँ और विद्यालय महिलाओं से भरे हैं पर हमारे देश में तो महिलाओं के लिए राह चलना भी निरापद नहीं! और ये कितनी दयालु हैं! जब से मैं यहाँ आया हूँ, इन्होंने अपने घरों में मुझे स्थान दिया है। ये मेरे भोजन का प्रबन्ध करती हैं, व्याख्यानों की व्यवस्था करती हैं, मुझे बाजार ले जाती हैं और मेरे आराम और सुविधा के लिए क्या नहीं करतीं--मैं किस प्रकार वर्णन करूँ। मैं सौ जन्मों में भी इस महान् कृतज्ञता के ऋण को थोड़ासा भी चुकाने में सर्वथा असमर्थ रहूँगा।

"क्या तुम जानते हो कि शाक्त शब्द का अर्थ क्या है? शाक्त होने का अर्थ शराब और भाँग का सेवन नहीं है। जो यह जानता है कि जगत् में सर्वव्यापक महाशक्ति

ईश्वर ही है और जो स्त्रियों को इस शक्ति का स्वरूप मानता है, वही शाक्त है। यहाँ लोग अपनी स्त्रियों को इसी रूप में देखते हैं। महर्षि मनु ने भी कहा है कि जिन परिवारों में स्त्रियों से अच्छा व्यवहार किया जाता है वे सुखी होते हैं तथा उन पर देवताओं का आशीर्वाद रहता है——यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यहाँ के पुरुष ऐसा ही करते हैं और इसीलिए वे इतने सुखी, विद्वान्, स्वतंत्र और उद्योगी हैं। और हम लोग स्त्रीजाति को नीच, अधम, महा हेय एवं अपवित्र कहते हैं। इसका फल यह है कि हम लोग पशुवत्, दास, उद्यमहीन और दरिद्र हैं।...

"और यहाँ की नारियाँ कैसी पवित्र हैं! २५ या ३० वर्ष की उम्र के पहले बहुत कम का विवाह होता है। गगनचारी पक्षी की भाँति ये स्वतंत्र हैं। हाट-बाजार, रोजगार, दुकान, कालेज, प्रोफेसर——सर्वत्र सब धन्धा करती हैं, फिर भी कितनी पवित्र हैं! जिनके पास पैसे हैं, वे गरीबों की भलाई में तत्पर रहती हैं। और हम क्या कर रहे हैं? हम लोग नियमपूर्वक अपनी कन्याओं का विवाह ११ वर्ष की आयु में कर देते हैं, जिससे वे भ्रष्ट और दुश्चरित्र न हो जायँ! हमारे मनुजी हमें क्या आज्ञा दे गये हैं? 'पुत्रियों का पुत्रों के समान ही सावधानी और ध्यान से पालन और शिक्षण होना चाहिए'——कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः। जैसे तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन पूर्वक पुत्रों की शिक्षा

होनी चाहिए वैसे ही माता-पिता को पुत्रियों को भी शिक्षा देनी चाहिए और उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कराना चाहिए। परन्तु हम क्या कर रहे हैं ? क्या तुम अपने देश की महिलाओं की अवस्था को सुधार सकते हो ? तभी तुम्हारी कुशलता की आशा की जा सकती है। नहीं तो तुम ऐसे ही पिछड़े रहोगे।"

१९ मार्च १८९४ को स्वामी रामकृष्णानन्दजी को लिखे पत्र में भी यही बात थी--"इस देश की-सी महिलाएँ दुनिया भर में नहीं हैं। वे कैसी पवित्र, स्वावलम्बिनी और दयावती हैं ! महिलाएँ ही यहाँ की सब कुछ हैं। विद्या, बुद्धि आदि सभी उन्हीं के पास है।...मैं तो यहाँ की महिलाओं को देखकर अचरज से मूक हो गया हूँ। 'त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीः' (तुम्हीं लक्ष्मी हो, तुम्हीं ईश्वरी हो, तुम्हीं लज्जारूपिणी हो) इत्यादि। 'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता' (जो देवी सब प्राणियों में शक्तिरूप से विराजती हैं), इत्यादि। ये सब सूक्तियाँ यहाँ की नारियों पर लागू होती हैं। यहाँ हजारों नारियाँ तुम्हें ऐसी मिलेंगी जिनका मन इस देश की बर्फ-जैसी ही शुभ्र और पवित्र है। और जरा अपने यहाँ की लड़कियों को तो देखो, १०-१२ साल की उम्र में ही बच्चा जनने लगती हैं !! हरे! हरे! भाई, अब मैं सब समझ रहा हूँ। मनु महाराज क्या कहते हैं देखो--यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। हम महापापी हैं।

स्त्रियों को 'घृणित कीड़ा', 'नरक का द्वार' इत्यादि कहना ही हमारे पतन का कारण रहा है। राम रे राम! कैसा आकाश-पाताल का अन्तर है। जानते हो, 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्' (जहाँ जैसा उचित हो, ईश्वर वहाँ वैसा कर्मफल का विधान करते हैं)! क्या भगवान् झूठी गप्प से भुलावे में आनेवाला है? जरा देखो, वेदों ने क्या कहा है--'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (तुम्हीं स्त्री हो और तुम्हीं पुरुष, तुम्हीं कुमार हो और तुम्हीं कुमारी)। और हम क्या चिल्लाते रहे हैं?--'दूरमपसर रे चाण्डाल!' (ऐ चाण्डाल, दूर हट!)--'केनैषा निर्मिता नारी मोहिनी' (किसने इस ठगिनी नारी को बनाया)? इत्यादि।"...

खेतड़ी के महाराज को उन्होंने लिखा--"...कितने ही सुन्दर पारिवारिक जीवन मैंने यहाँ देखे हैं; कितनी ही ऐसी माताओं को मैंने यहाँ देखा है जिनके निर्मल चरित्र तथा निःस्वार्थ सन्तान-स्नेह का वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता। कितनी ही ऐसी कन्याओं तथा कुमारियों को देखने का मुझे अवसर मिला है, जो डायना देवी के मन्दिर पर स्थित तुषारकणिकाओं के समान निर्मल, असाधारण शिक्षिता तथा मानसिक और आध्यात्मिक सब दृष्टि से उन्नत हैं। तब क्या अमेरिका की सभी नारियाँ देवीस्वरूपा हैं? यह बात नहीं; भले-बुरे तो सभी स्थानों में होते हैं।..."

यह बात नहीं कि स्वामीजी ने अमरीकी महिलाओं की सर्वदा प्रशंसा ही की। समय समय पर वे उनके दोषों की ओर इंगित करना नहीं भूले। उनकी अतिशय भावुकता के बारे में उन्होंने एक व्यक्तिगत प्रश्न में श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य को लिखा था--"अमरीकी महिलाएँ अत्यन्त भावुक होती हैं तथा उनमें रोमान्स के लिए पागलपन सवार रहता है। मैं उनके लिए एक विचित्र जन्तु हूँ जिसमें कोई रोमानी भावनाएँ नहीं हैं, और इसलिए वे मेरे प्रति इस प्रकार की भावनाओं का पोषण नहीं कर पातीं तथा मेरा बड़ा आदर करती हैं। मैंने उन सबको मुझे 'पिता' या 'भाई' कहने के लिए बाध्य कर रखा है। मैं उन्हें दूसरी किसी भावना के साथ अपने पास फटकने नहीं देता और धीरे धीरे उन्होंने सारी बात समझ ली है।"

इन पत्रों में अमरीकी जनता की सुख-समृद्धि को देखकर भारत की दीन-हीन, युग-युग से उत्पीड़ित और पददलित जनता के प्रति व्यथा और करुणा का स्वर भी सुनायी देता है। उन पर हुए अत्याचारों के प्रति उनका आक्रोश फूट पड़ता है। साथ ही उनकी अवस्था को सुधारने की वे अपनी योजना भी रखते हैं जिसमें सब कुछ विधेयात्मक है, निषेधात्मक कुछ भी नहीं। श्री हरिपद मित्र को वे लिखते हैं--

"...अगर हमारे देश में कोई नीच जाति में जन्म लेता है, तो वह हमेशा के लिए गया-बीता समझा जाता है,

उसके लिए फिर कोई आशा की किरण नहीं। यह क्या कम अत्याचार है! इस देश में हर व्यक्ति के लिए आशा है, भरोसा है एवं सुविधाएँ हैं। आज जो गरीब है वह कल धनी हो सकता है, विद्वान् और लोकमान्य बन सकता है। यहाँ सभी लोग गरीबों की सहायता करने में व्यस्त रहते हैं। भारतवासियों की औसत मासिक आय दो रुपये है। हमारे यहाँ रोना-धोना तो खूब मचा रहता है कि हम बड़े गरीब हैं, पर गरीबों की सहायता के लिए कितनी दानशील संस्थाएँ हैं? भारत के लाख-लाख अनाथों के लिए कितने लोग रोते हैं? हे भगवान्! क्या हम मनुष्य हैं? तुम लोगों के घरों के चतुर्दिक् जो पशुवत् भंगी-डोम हैं, उनकी उन्नति के लिए क्या कर रहे हो? उनके मुख में एक ग्रास अन्न देने के लिए क्या करते हो? बताओ न? उन्हें छूते भी नहीं और उन्हें 'दूर', 'दूर' कहकर दुत्कार देते हो! क्या हम मनुष्य हैं? वे हजारों साधु-ब्राह्मण भारत की नीच, दलित, दरिद्र जनता के लिए क्या कर रहे हैं? 'छू मत', 'छू मत', बस यही रट लगाते हैं। उनके हाथों हमारा सनातन धर्म कैसा तुच्छ और भ्रष्ट हो गया है! अब हमारा धर्म किसमें रह गया है? केवल छुआछूत में——मुझे छुओ नहीं, छुओ नहीं।. . ."

अपने मद्रासी शिष्यों को अपनी योजना बताते हुए २४ जनवरी, १८९४ के पत्र में लिखा——"जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा यह है कि एक ऐसा चक्र प्रवर्तित कर

दूं,जो उच्च और श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वार-द्वार पहुँचा दे; इसके बाद स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें। हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें यह देखने दो कि और लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय लेने दो। रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे कोई विशेष आकार धारण कर ही लेंगे। परिश्रम करो, अटल रहो और भगवान् पर श्रद्धा रखो। काम शुरू कर दो। देर-अबेर में आ ही रहा हूँ। 'धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति'––इसे अपना आदर्श-वाक्य बना लो।

"याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ियों में बसा है; परन्तु शोक! उन लोगों के लिए कभी किसी ने कुछ किया नहीं। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं का पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति विधवाओं को अधिकाधिक पति मिलने पर निर्भर नहीं करती वरन् आम जनता की अवस्था पर निर्भर करती है। क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो? क्या उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, बिना उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति को नष्ट किये, उन्हें वापस दिला सकते हो? क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कौशल तथा पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या उसी के

साथ साथ धर्म-विश्वास, संस्कृति और सहज वृत्ति में हिन्दुओं की परम मर्यादा पर जमे रह सकते हो ? हमें यही काम करना है और हम इसे करेंगे ही। तुम सबने इसी के लिए जन्म लिया है। अपने में विश्वास रखो। महान् विश्वास महत् कार्यों का जनक है। हमेशा बढ़ते चलो। मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति—यही हमारा आदर्श-वाक्य है। वीर युवको ! बढ़े चलो !"

(क्रमशः)

●

कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो—यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है।

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द शिला स्मारक, कन्याकुमारी
उद्घाटन समारोह

(विवेकानन्द शिला स्मारक, कन्याकुमारी के उद्घाटन-समारोह का यह विवरण 'वेदान्त-केसरी' के सितम्बर १९७० अंक से साभार लिया गया है। शिला-स्मारक के फोटो भी 'वेदान्त-केसरी' के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। हमने 'वेदान्त-केसरी' में प्रकाशित विवरण हूबहू न लेकर अपनी सुविधा के अनुसार लिया है।--सं.)

स्मारक का स्थल और स्थापत्य

कन्याकुमारी में जहाँ पर तीन महासागर मिलते हैं, समुद्र तट से कोई दो फर्लांग की दूरी पर दो बड़ी बड़ी चट्टानें पानी के बाहर गौरवपूर्वक सिर उठाये खड़ी हैं। स्वामी विवेकानन्द इस पावन स्थल पर दिसम्बर, १८९२ में आये थे और वे समुद्र में तैरकर 'श्रीपाद शिला' पर पहुँचे थे। विवेकानन्द जन्म-शताब्दी समारोह समिति ने वहाँ पर एक विशाल मण्डप का निर्माण किया है जिसमें स्वामी विवेकानन्द के परिव्राजक रूप की ८ फुट ऊँची एक भव्य आदमकद मूर्ति प्रतिष्ठित है। साथ ही उक्त समिति ने समान रूप से ही भव्य 'श्रीपाद मण्डप' का निर्माण किया है जिसमें कन्याकुमारी की अधिष्ठात्री देवी माता कन्या के चरण-चिह्नों को सुरक्षित रखा गया है। इस योजना के पूर्ण होने में छः वर्ष लगे और इस पर ९० लाख रुपये व्यय हुए।

मण्डप का आकार रामकृष्ण-मन्दिर, बेलुड़ मठ की याद दिलाता है। मण्डप का सामने का भाग अजन्ता की शैली पर बना है और मण्डप पर खड़ी की गयी मीनारें पल्लव शैली की प्रतीक हैं। जिन कारीगरों ने यह निर्माण-कार्य किया, वे महा-

बलीपुरम् के शासकीय स्थापत्य कला-विज्ञान स्कूल में प्रशिक्षित हुए थे ।

निर्माण-कार्य में ७३,००० घनफुट पत्थर लगा। निर्माण में लगाये गये ग्रेनाइट, काले और लाल पत्थरों तथा छत के पत्थरों का अधिकांश तमिलनाडु की विभिन्न खदानों से आया। उनकी तराश समुद्र-तट पर हुई और वहाँ से बेड़ों के द्वारा उन्हें विवेकानन्द-शिला पर लाया गया ।

समुद्र-तट से दो फर्लांग की दूरी पर स्थित इस शिला पर जाने के लिए यात्री-नौका की सेवाएँ उपलब्ध हैं। बिजली और टेलीफोन इत्यादि की सुविधाएँ सबमैरीन केबल के द्वारा उपलब्ध की गयी हैं। समस्त भवनों के बाहरी भागों को समुद्री वायु के क्षरण से बचाने के लिए सिलिकन पारदर्शी पेण्ट से पोता गया है।

स्मारक का नक्शा श्री एस. के. आचार्य द्वारा तैयार किया गया है। श्री आचार्य तमिलनाडु के रामनाथपुरम् जिले के अन्तर्गत देवकोट्टई ग्राम के निवासी हैं और परम्परागत शैली के शिल्पी हैं। औसतन ६५० आदमी नियमित रूप से छः वर्षों तक उस व्यक्ति का स्मारक बनाने के लिए कार्य करते रहे जिसने मानव के सांसारिक क्षितिज को आध्यात्मिक रूप और आकार प्रदान किया।

शिला स्मारक का क्षेत्रफल लगभग ५ एकड़ है और वह समुद्र की सतह से ५५ फुट ऊँचा है। उसके दो भाग हैं—एक तो प्रमुख 'विवेकानन्द मण्डप' और दूसरा 'श्रीपाद मण्डप'। 'विवेकानन्द मण्डप' के प्रमुख सभामण्डप का प्रवेश-द्वार अजन्ता की शैली पर बना है, जबकि आयताकार 'विमान' पल्लव शैली के स्थापत्य पर निर्मित है। प्रमुख सभामण्डप के चार कोनों पर निर्मित गोपुरम् द्रविड़ शैली का स्मरण दिलाते हैं।

शिला स्मारक में प्रतिष्ठित स्वामी विवेकानन्द की कांस्य मूर्ति ।

विवेकानन्द-मूर्ति ८ फुट ऊँची है और उसके चारों ओर लगभग २० फुट की ऊँचाई वाले जो चार प्रमुख खम्भे खड़े हैं, उनमें की गयी नक्काशी चोला शैली की याद दिलाती है। इनमें से प्रत्येक स्तम्भ एक-एक ठोस टुकड़ा है और प्रत्येक का वजन १४ टन है।

इससे कुछ नीचे की सतह पर, प्रमुख सभामण्डप के पीछे, 'ध्यान मण्डप' है। यहाँ का पूजा-स्थल और सिंह की मूर्तियाँ पल्लव शैली पर बनी हैं।

'श्रीपाद मण्डप' पूरी तरह से चोला शैली पर बना है।

'ध्यान मण्डप' की दीवालों पर ताम्रफलक लगाये जायेंगे जिनमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन की घटनाएँ अंकित रहेंगी। प्रमुख सभामण्डप एवं ध्यानमण्डप में जो पालिश किये हुए काले ग्रेनाइट पत्थर लगे हैं उन पर आकारों और डिजाइनों को अंकित करना शिल्प के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग है। इस कार्य के लिए महाबलीपुरम के शासकीय शिल्प प्रशिक्षण विद्यालय के चार शिल्पियों की सेवाएँ ली गयी हैं।

समारोह का विवरण

कन्याकुमारी में समुद्र-तट से कुछ दूर स्थित प्रसिद्ध विवेकानन्द-शिला पर बने विवेकानन्द स्मारक का उद्घाटन विगत २ सितम्बर को भारत के राष्ट्रपति श्री वी. वी गिरि द्वारा सम्पन्न हुआ।

श्री गिरि हेलिकाप्टर द्वारा ९-२० बजे सुबह शिला पर पहुँचे। उनके स्वागत के लिए तमिलनाडु के मुख्य मन्त्री श्री एम. करुणानिधि, शिला स्मारक समिति के संगठन-मन्त्री श्री एकनाथ रानडे तथा अन्य शासकीय अधिकारी वहाँ पर उपस्थित थे। ये लोग पहले ही समिति की सुसज्जित नौका 'विजय' में चढ़कर वहाँ पहुँच गये थे। शिला पर श्री गिरि एवं श्री करुणा-

स्वामी विवेकानन्द की मूर्ति के सामने राष्ट्रपति
श्री वी. वी. गिरि, तमिलनाडु के मुख्यमंत्री
श्री एम. करुणानिधि तथा अन्य।

निधि के पहुँचने पर पूर्णकुम्भ द्वारा उन दोनों का स्वागत किया गया।

राष्ट्रपति ने पुरी, द्वारका, बदरीनाथ और रामेश्वर इन चारों धामों एवं कन्याकुमारी-मन्दिर से प्राप्त प्रसाद को शिला-स्मारक के प्रमुख द्वार पर समर्पित कर स्मारक के उद्‌घाटन की घोषणा की। इससे पूर्व राष्ट्रपति और उनके साथ के लोग संगठन-मंत्री के द्वारा 'श्रीपाद मण्डप' में ले जाये गये। प्रमुख मण्डप में प्रवेश कर राष्ट्रपति ने 'विवेकानन्द-मूर्ति' पर प्रसाद अर्पित किया और ज्योति प्रज्वलित की। उन्होंने वास्तुकला की भूरि भूरि प्रशंसा की। फिर राष्ट्रपति अपने दल के साथ मूर्ति के पीछे, कुछ नीचे स्थित, 'ध्यान-मण्डप' में गये जहाँ काँच के अन्दर ध्यान के लिए 'ॐ' प्रस्थापित किया गया है। राष्ट्रपति हेलीकाप्टर से १० बजे समुद्र-तट पर लौट आये। मुख्य मन्त्री एवं अन्य लोग नौका द्वारा तट पर पहुँचे।

उसी दिन इसके पूर्व ही स्मारक की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित सारे अनुष्ठान पुरोहितों और पण्डितों के द्वारा विधिवत् सम्पन्न किये गये थे और पूर्णाहुति का अनुष्ठान रामकृष्ण मठ एवं मिशन, बेलुड़ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस प्रतिष्ठा-समारोह के अवसर पर रामकृष्ण मठ और मिशन के मद्रास एवं त्रिवेन्द्रम केन्द्रों के अध्यक्ष स्वामी कैलासानन्दजी एवं स्वामी तपस्यानन्दजी, तिरुप्पर-तुरई के तपोवनम् के स्वामी चिद्‌भवानन्दजी, चिन्मय मिशन के स्वामी चिन्मयानन्दजी तथा अन्य सात संन्यासी एवं कुछ भक्त विशेष रूप से उपस्थित थे। इस कार्यक्रम में शिला पर प्रवेश विशेष अनुमति-पत्रों द्वारा प्रतिबन्धित कर दिया गया था।
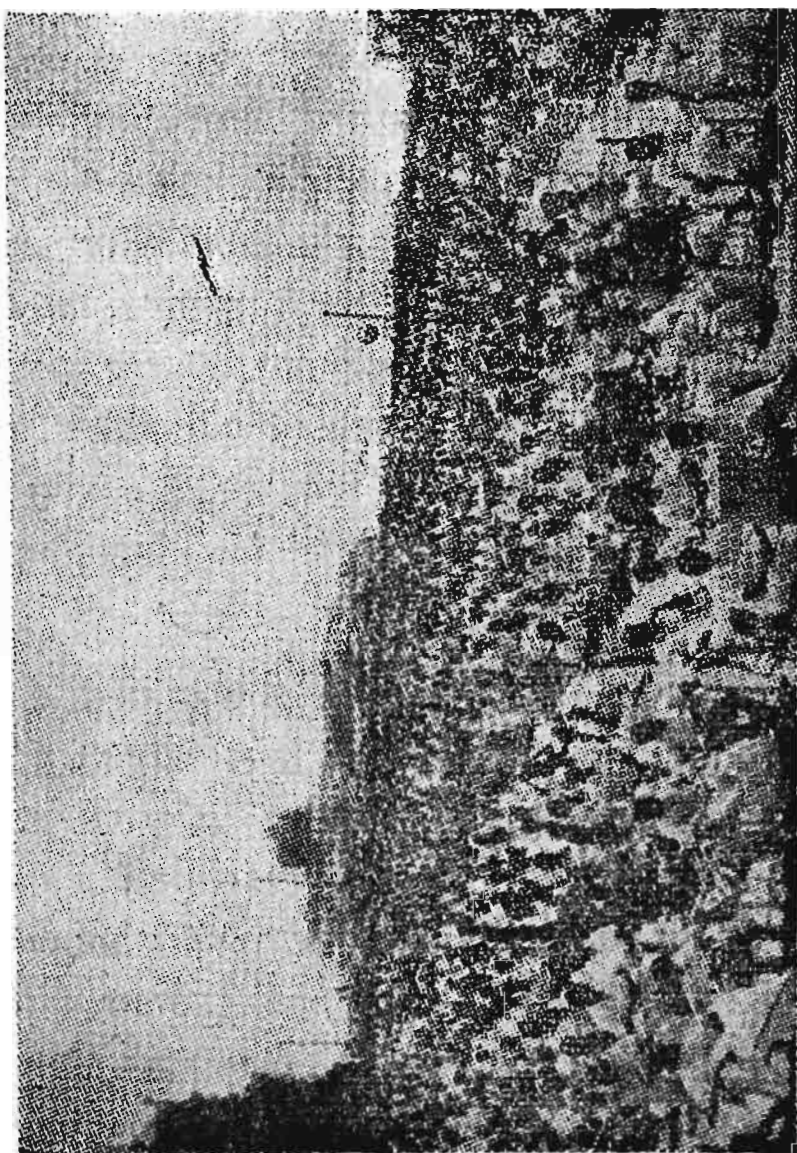
उद्घाटन-समारोह में उपस्थित विशाल जनसमूह का एक दृश्य।

तट पर प्रमुख समारोह

प्रमुख समारोह का आयोजन समुद्र-तट पर कन्याकुमारी-मन्दिर के पीछे किया गया था। ठीक १० बजे दिन को राष्ट्रपति और तमिलनाडु के मुख्यमंत्री समारोह-स्थल पर आये। श्री डी. एन. सिन्हा, श्री एकनाथ रानडे तथा जिलाध्यक्ष एवं जिले के अन्य अधिकारियों ने उनका स्वागत किया। समारोह का प्रारम्भ समिति के अन्यतम उपाध्यक्ष डा. वी. राघवन द्वारा शान्ति-पाठ से हुआ। सर्वश्री डी. एन. सिन्हा, एकनाथ रानडे, डा. वी. राघवन और डा. नाटेसन ने क्रमशः राष्ट्रपति, मुख्यमंत्री, स्वामी वीरेश्वरानन्दजी तथा केन्द्रीय मंत्री श्री के. वी. सुब्बिया को पुष्प-माल्य अर्पित किया। श्री डी. एन. सिन्हा ने अपने स्वागत-भाषण में यह बताया कि स्वामी विवेकानन्द के जीवन में शिला का कैसा सम्बन्ध रहा और उन्होंने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि उस शिला पर बने स्मारक के उद्घाटन के उपलक्ष में भारत के राष्ट्रपति का, तमिलनाडु के मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में, स्वागत करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ है।

इससे पूर्व समिति के सचिव श्री के. आर. सुन्दरराजन ने भारत के एवं भारतेतर देशों के गण्यमान्य एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों से प्राप्त अनेकों सन्देशों में से कुछ सन्देशों को पढ़कर सुनाया।

संगठन-मंत्री श्री एकनाथ रानडे ने एक संक्षिप्त रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने स्मारक-योजना के कई पहलुओं का उल्लेख किया। उन्होंने राज्य-सरकारों से प्राप्त अनुदान एवं समिति के कार्यकर्ताओं द्वारा देश के जन-जन से एकत्र किये गये दान की जानकारी दी। कुल एक करोड़ रुपये की राशि इस प्रकार इकट्ठी हुई, जिसमें भारत सरकार का १० लाख रुपये का अनुदान भी शामिल है। इस अनुदान की घोषणा भारत-सरकार ने उद्घाटन-समारोह के अवसर पर की।

मंच पर श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज, राष्ट्रपति श्री गिरि, मुख्यमंत्री श्री करुणानिधि तथा अन्य सम्मान्य अतिथिगण ।

अपनी रिपोर्ट में श्री रानडे ने स्मारक की आवश्यकता को समझाया और कहा कि जिस प्रकार भगवान् बुद्ध के जीवन में बोधिवृक्ष का महत्त्व था, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द के जीवन में उक्त शिला ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। उन्होंने बताया कि दान जनसाधारण से प्राप्त हुए हैं जिनमें विद्यार्थी, मजदूर और किसान आदि शामिल हैं। दान देनेवालों की संख्या लगभग २५ लाख है जो कि देश की वयस्क जनसंख्या का १% है। उन्होंने समिति की योजना के दूसरे भाग का भी उल्लेख किया और कहा कि इस दूसरे भाग के अन्तर्गत समिति एक गैर-संन्यासी संघ कायम करना चाहती है जिसके सदस्य समाज और देश के उत्थान के लिए अपने जीवन को संघ के प्रति समर्पित कर देंगे। योजना के इस दूसरे भाग पर लगभग दो करोड़ रुपये का अतिरिक्त व्यय सम्भावित है। स्मारक के पहले भाग पर १ करोड़ २० लाख रुपये के व्यय का प्रावधान किया गया है जिसमें उद्घाटन समारोह का व्यय भी शामिल है। अन्त में उन्होंने श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री लाल बहादुर शास्त्री, श्री अन्नादुराई, समिति के प्रतिस्थापक अध्यक्ष श्री मन्नाथ पद्मनाभन एवं अन्यतम प्रतिस्थापक उपाध्यक्ष श्री वी. राजगोपालाचारी के निधन पर शोक व्यक्त किया। इन महानुभावों ने शिला-स्मारक-योजना में विशेष रुचि प्रदर्शित की थी।

इसके पश्चात् राष्ट्रपति महोदय ने, समिति की ओर से, स्मारक के स्थपति श्री एस. के. आचार्य को एवं स्वामी विवेकानन्द की कांस्य मूर्ति बनानेवाले शिल्पी श्री एन. एल. सोनवड़ेकर को शाल प्रदान कर सम्मानित किया तथा उन्हें रथ और नटराज की प्रतिकृतियों से पुरस्कृत किया।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरान्दजी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन, बेलड़ ने आशीर्वचन दिये। तत्पश्चात् तमिलनाडु
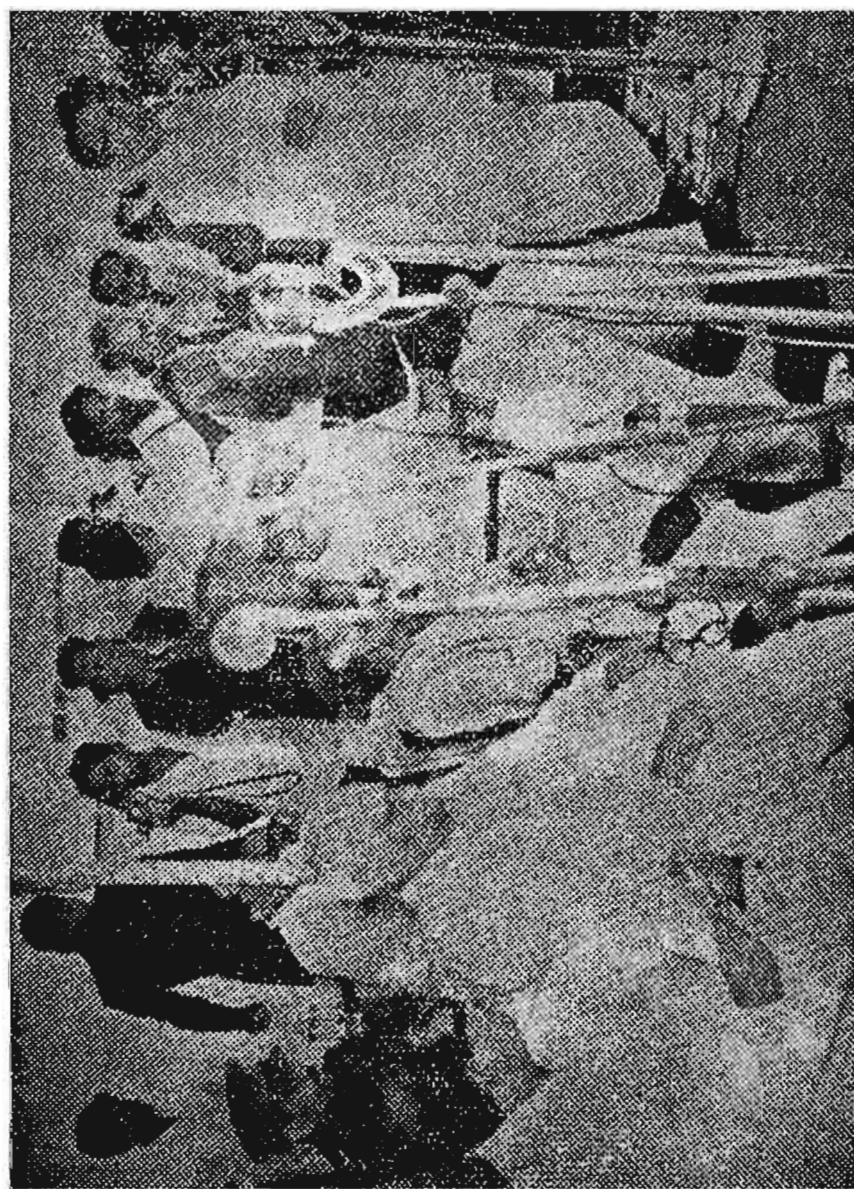
संगठन-मंत्री श्री एकनाथ रानडे स्मारक समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए।

के मुख्य मंत्री महोदय ने अपना अध्यक्षीय भाषण दिया। इसके अनन्तर राष्ट्रपति महोदय ने उद्घाटन-भाषण दिया। समिति के अन्यतम उपाध्यक्ष डा. एस. नाटेसन ने आभार-प्रदर्शन किया तथा राष्ट्रगीत के उपरान्त कार्यक्रम समाप्त हुआ।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्रदर्शनी'

१ सितम्बर की सन्ध्या राष्ट्रपति महोदय समुद्र-तट पर समिति के द्वारा विशेष रूप से आयोजित 'उत्तिष्ठत जाग्रत' प्रदर्शनी-स्थल पर आये और उसे उद्घाटित किया। प्रदर्शनी की चीजें और उसके विभिन्न अंग कलकत्ते के लब्धप्रतिष्ठ कलाकार श्री गोस्वामी द्वारा तैयार किये गये हैं।

उसी सन्ध्या श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने एक रेडियो वार्ता भी प्रदान की।

रेडियो वार्ता

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन द्वारा १ सितम्बर १९७० को सायं सात बजे प्रसारित की गयी रेडियो वार्ता।)

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द प्रमुखतः धर्म के क्षेत्र के व्यक्ति थे, तथापि उनमें उनके पहले के धार्मिक व्यक्तियों से कुछ विलक्षणता थी। और वह विलक्षणता यह थी कि उन्होंने हमारे राष्ट्रीय जीवन के समस्त पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये; यहाँ तक कि हम बहुधा देखते हैं कि उन्हें एक महान् देशभक्त, एक शिक्षाशास्त्री, एक समाज-सुधारक आदि आदि के नाम से पुकारा जाता है। पर वे मात्र इतना ही नहीं थे, बल्कि इससे अधिक थे। वे आध्यात्मिक अनुभूतिसम्पन्न व्यक्ति थे और उन्होंने जीवन को तथा हमारे राष्ट्रीय जीवन के समस्त पक्षों को इसी दृष्टिकोण से देखा था। उन्होंने अनुभव किया था कि अपने

इतिहास की समूची परम्परा में तथा अपने राष्ट्रीय जीवन के समस्त युगों में भारत का जीवन को देखने का ढंग ही निराला रहा है। वह सदैव एक आध्यात्मिक आदर्श के लिए खड़ा रहा। स्वामी विवेकानन्द ने यह अनुभव किया था कि इस आदर्श में ह्रास होने लगा और उसी ने भारत की इन सारी समस्याओं को जन्म दिया। अतः वे एक प्रबल आध्यात्मिक आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीय जीवन में नवप्राण-संचार करना चाहते थे। इसलिए उनकी चिन्ता मौलिक रूप से यही थी कि हर जीव अपने भीतर निहित शिव को देखने के लिए किस प्रकार जागे। वे हमारे राष्ट्रीय जीवन के समस्त पहलुओं को इसी अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर उन्मुख कर देना चाहते थे। भारत का पुनर्निर्माण केवल इस आध्यात्मिक आधार पर ही सम्भव था, अन्य किसी दूसरे आधार पर नहीं। राजनीति या अर्थनीति इस प्रयोजन की सिद्धि करने में सक्षम न थी। अतएव स्वामीजी ने चेतावनी दी थी कि यदि भारत अन्य किसी आदर्श के पीछे दौड़ा तो वह उसके सर्वनाश का कारण होगा।

पर धर्म से उनका तात्पर्य वह नहीं था जो हम साधारण तौर पर लगाया करते हैं; जैसे कतिपय विश्वासों और क्रिया-अनुष्ठानों का समूह, जो पौरोहित्य से स्वीकृत हो और किसी दायरे में बाँध दिया गया हो। स्वामीजी ने धर्म के प्रति ऐसे दृष्टिकोण की निन्दा की। उनके लिए तो धर्म अनुभूति था, साक्षात्कार था। उन्होंने धर्म की व्याख्या यों की––"प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है। जीवन का लक्ष्य है भीतर छिपे हुए इस ब्रह्मभाव को, बाह्य एवं आन्तर प्रकृति पर नियमन प्राप्त कर, अभिव्यक्त कर देना। इसे चाहे कर्म से करो या उपासना से, चाहे योग से करो या ज्ञान से––चाहे इनमें से एक के द्वारा करो, या अधिक के द्वारा अथवा सभी के द्वारा ––और मुक्त हो

जाओ। यही धर्म का सार है। मत या सिद्धान्त या उपासना-पद्धति या धर्मग्रन्थ या मन्दिर या बाहरी रूप—ये सब गौण साधन मात्र हैं।"

धर्म का सार है हमें बन्धन और दुःख से छुटकारा दिलाना। हमारे बन्धन का कारण क्या है? वह है 'मैं' और 'मेरा' का भाव, दूसरे शब्दों में, स्वार्थपरता। स्वार्थपरता बन्धन है, स्वार्थशून्यता या प्रेम ही मुक्ति है। चारों योग मुक्ति पाने या ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करने के मार्ग हैं। इनमें से प्रत्येक में आध्यात्मिक सार एक ही है और वह है 'मैं' और 'मेरा' का नाश अथवा स्वार्थपरता का नाश।

धर्म की यह व्याख्या धार्मिक सहिष्णुता और सद्भाव का आधार भी प्रस्तुत करती है। प्रत्येक धर्म इस स्वार्थपरता के नाश को अपना लक्ष्य मानता है और इसकी सिद्धि के लिए वह जो उपाय बताता है वह भी इन चारों योगों में से ही कोई एक होता है, अथवा इनमें से एकाधिक योगों का संयोग होता है। इस प्रकार सभी धर्म एक ही बात की शिक्षा देते हैं, भले ही उपासना-पद्धति और प्रतीकों में कुछ अन्तर हो। यह अन्तर तत्तद् धर्मावलम्बियों की जातीय पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है जिनके बीच वह धर्मविशेष जन्म लेता है। जैसे कोई जातिविशेष एक अलग भाषा का विकास कर लेती है, उसी प्रकार अलग अलग जाति के लोग, अपनी अपनी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के अनुरूप, विभिन्न उपासना-पद्धतियों और प्रतीकों को जन्म दे देते हैं। इसलिए प्रतीकों और उपासना-पद्धतियों में हमें अन्तर मिलेगा। परन्तु चूंकि धर्म का सार सभी धर्मों में एक समान ही है अतः धर्मों के बीच झगड़े अर्थहीन ही हैं।

स्वामीजी की जो दूसरी महती देन है वह है उनका सेवा का सिद्धान्त। भारत में हम देखते हैं कि जब भी एक महान्

आध्यात्मिक व्यक्तित्व आविर्भूत हुआ, तो उसके बाद एक संन्यासी-संघ का गठन हो गया जिसके सदस्य अपने प्रवर्तक द्वारा उपदिष्ट और प्रचारित आदर्शों के अनुरूप अपने जीवन को ढालने में तथा सर्वसाधारण जनता में उन आदर्शों का प्रचार करने में लग गये। इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण के बाद भी एक संन्यासी-संघ का उदय हुआ है; पर पुराने संन्यासी-संघों और स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित इस नूतन संघ में थोड़ासा अन्तर है। पुराने संघों ने अपनी उपासना-पद्धति में कर्म को बिलकुल स्थान न दिया और वे ध्यान को ईश्वर-साक्षात्कार का एकमात्र मार्ग मानकर उसी में लगे रहे; क्योंकि उनकी मान्यता थी कि एकमात्र तैलधारावत् अखण्ड ध्यान-मनन ही ईश्वरानुभूति तक ले जाता है। उनके मत से कर्म एक बाधा थी क्योंकि वह ध्यान के इस नैरन्तर्य को खण्डित कर देता था। पर स्वामी विवेकानन्द ने देखा कि राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने के लिए संन्यासियों का भी कार्य से जुटना आवश्यक है। किन्तु, जैसा ऊपर कहा, इससे ध्यानपरक जीवन के खण्डित होने की आशंका थी और सांसारिक कर्मों में उलझ जाने के कारण आदर्श या लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाने का डर था। अतएव स्वामी विवेकानन्द ने कर्म को उपासना के समकक्ष उठाकर इस दूरी को खत्म कर दिया। उन्होंने कहा, "ईश्वर सर्वातीत भी हैं और सर्वान्तर्यामी भी। ईश्वर के सर्वातीत रूप का चिन्तन मनुष्य की सेवा करते हुए, मनुष्य में ईश्वर के सर्वान्तर्यामी रूप को देखते हुए, सतत किया जा सकता है। अतएव इस भाव के साथ की जानेवाली सेवा वस्तुतः उपासना ही होगी और इससे ईश्वर के चिन्तन के नैरन्तर्य में कोई बाधा उपस्थित न होगी।" यही संसार को स्वामी विवेकानन्द की अपूर्व देन है। 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'--अपनी मुक्ति के लिए, जगत् के कल्याण

के लिए। इसमें से प्रथम ही मुख्य है और 'जगत् का कल्याण' गौण है, क्योंकि प्रकारान्तर से वह तो ईश्वर-साक्षात्कार की मुख्य साधना के आनुषंगिक फल के रूप में अपने आप विद्यमान है ही।

वर्तमान युग में अपने अधिकारों को लेकर संसार में हम कितना झगड़ा-फिसाद करते रहते हैं, पर जीवन में अपने कर्तव्यों की ओर हमारा तनिक ध्यान नहीं जाता। प्राचीन भारत में लोगों की दृष्टि प्रथमत: अपने कर्तव्यों की ओर थी। अपने अधिकारों पर--मानवीय अधिकारों, मौलिक अधिकारों आदि पर--जोर देते रहने से हम अत्यन्त स्वार्थी बन गये हैं और उसी के फलस्वरूप हमारे जीवन में संघर्ष, लोभ, ईर्ष्या आदि की प्रवृत्ति प्रबलतर हो गयी है। ऐसे सन्दर्भ में यह सेवा का सिद्धान्त, नर में नारायण की सेवा का सिद्धान्त जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को सुधारने में बड़ी सहायता प्रदान करेगा और वह हमारे राष्ट्र-निर्माण के कार्य में एक बली उपादान सिद्ध होगा।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।

आशीर्वचन

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज द्वारा।)

राष्ट्रपतिजी, माननीय मुख्य मंत्री, विवेकानन्द शिला स्मारक समिति के सदस्यगण एवं मित्रो,

मैं इसे अपना अहोभाग्य मानता हूँ कि मुझे जगदम्बा कन्याकुमारी के चरणों में होनेवाले इस भव्य और प्रभावी समारोह में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ, जहाँ जगन्माता की एक ऐसी महिमामय और विशिष्ट सन्तान की स्मृति का सत्कार किया जा रहा है जिसे उन्होंने स्वयं हमारे और संसार के कल्याण के लिए हमारे बीच भेजा था। हम लोग जो आज यहाँ
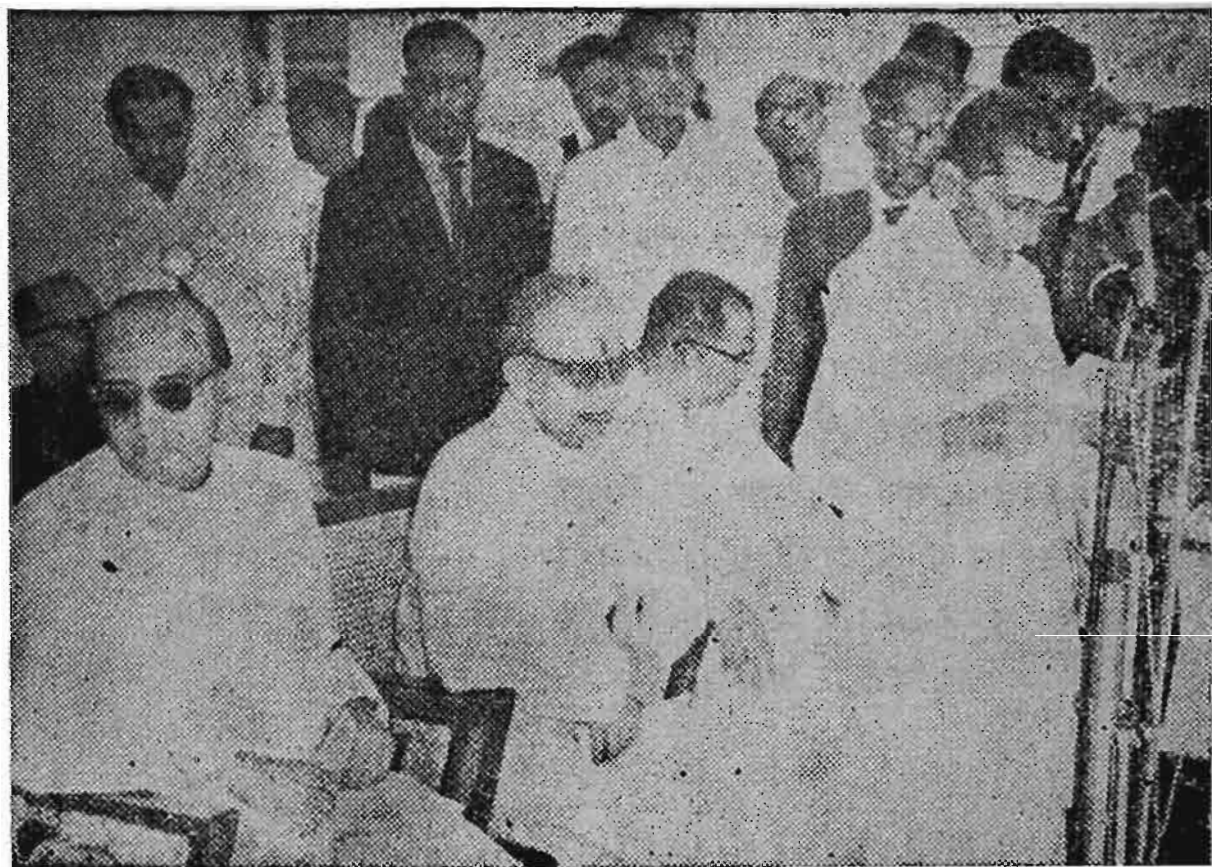
श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज आशीर्वचन देते हुए ।
(बैठे हुए बायें से दायें – श्री डी. एन. सिन्हा, अवकाशप्राप्त मुख्य न्यायाधीश, पश्चिम बंगाल; डा. वी. राघवन तथा श्री एकनाथ रानडे)

उपस्थित हैं, हजारों ऐसे लोग जो निकट या दूर से हमें देख रहे हैं तथा वे लोग जो इस समारोह के संगठक हैं --- इन सब पर जगज्जननी के आशीर्वाद की वर्षा हो !

मैं समझता हूँ कि यदि आज के सन्दर्भ में मैं कुछ उन अनमोल विचारों का स्मरण करूँ जो स्वामी विवेकानन्द के मन में शिला पर बैठकर ध्यान करते समय छा गये थे, तो यह कोई अप्रासंगिक बात न होगी। जब वे यहाँ आये, तो मन्दिर में माता कन्याकुमारी की पूजा करने के उपरान्त उनके भीतर उस एकाकी शिला पर जाकर गहरे ध्यान में डूब जाने की बलवती इच्छा जागी। अतः वे समुद्र को तैरकर उस शिला तक पहुँच गये जहाँ आज भारतमाता के इस महान् सपूत का स्मारक खड़ा है। शिला पर बैठकर स्वामीजी गम्भीर ध्यान में निमग्न हो गये। उन्होंने अपने भारत-भ्रमणकाल में भारतवासियों और उनकी जीवन-पद्धतियों के सम्बन्ध में जो विशाल ज्ञान-भाण्डार संचित किया था, उसे पुनः एक बार अपने उस ध्यान में देखा; साथ ही उन्होंने शताब्दियों से प्रवाहित होती आयी भारतीय जीवन-धारा को, उसके लक्ष्य एवं उसकी उपलब्धियों को भी ध्यान की उस तन्मयावस्था में देखा। उन्होंने देखा कि धर्म ही लोगों का जीवन था, प्राण था। उन्होंने अनुभव किया कि समग्र रूप से देश का पुनर्जागरण धर्म के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। उन्होंने देखा कि वंश, भाषा और प्रथाओं की बहुलता के बीच लोगों में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से एक एकत्व का भाव विद्यमान है और यही वह सूत्र है जो उन सबको एक राष्ट्र के रूप में गूंथे हुए है।

यद्यपि स्वामीजी ने आध्यात्मिक आदर्श का और राष्ट्र पर उसके प्रभाव का अनुभव किया, तथापि वे भारत के जनसाधारण की गरीबी, अज्ञानता और दुरवस्था को नहीं भूल सके। इन

लोगों पर सदियों तक चालाक व्यक्तियों के द्वारा धर्म के नाम पर शोषण और अत्याचार होता रहा। उच्च वर्ण के लोगों ने जनसाधारण की उपेक्षा की, उन्होंने हिन्दूधर्म के बहुसंख्यक अनुयायियों को हिन्दू धर्म के लाभ से वंचित कर दिया और फल हुआ राष्ट्रीय पतन। स्वामीजी ने अनुभव किया कि यदि भारत को एक बार पुनः उठना है तो जनसाधारण की भौतिक अवस्था में सुधार लाना होगा और उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी।

भारत के पतन का एक और कारण यह था कि उसने अपने को शेष संसार से अलग कर लिया और दूसरे देशों के साथ मेल-जोल बन्द कर दिया; उसके पास जो जीवनदायी सत्य संचित थे, उन्हें उसने अपने तक ही सीमित रखा। जब तक उसने उदारता से इन सत्यों को बाँटा था, तब तक प्राचीन काल में वह महान् और श्रेष्ठ बना रहा, पर जिस दिन से उसने ऐसे संकीर्ण भाव का पोषण शुरू किया, उसी दिन से उसकी अधोगति प्रारम्भ हो गयी। वेदान्त के विस्तृत फैलाव से भारत और बाहर का संसार दोनों ही लाभान्वित होंगे। स्वामीजी ने अपने मनश्चक्षुओं के सामने एक भावी सभ्यता के दर्शन किये, जिसे उन्होंने परिपूर्ण सभ्यता के नाम से पुकारा। वह थी भारत के आध्यात्मिक आदर्श के साथ पाश्चात्य विज्ञान और अभियांत्रिकी का मेल। उन्होंने देखा कि मानव-जाति इस नवीन सभ्यता की बाट जोह रही है। मन में इन भावों को ले स्वामीजी ने पश्चिम जाने का विचार किया।

शिला पर ध्यानरत स्वामीजी के मानस में ये ही बातें उठ रही थीं और जब वे अपने इस ध्यान से उठे तो उन्हें अपने जीवन का ध्येय स्पष्ट रूप से दीख पड़ा। वह था--भारत को उसके राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सन्देश देना और मानवजाति का

सामग्रिक तौर पर पुनर्निर्माण करने के लिए पश्चिम को सन्देश देना।

अतएव इस शिला का देश के लिए एक ऐतिहासिक महत्त्व है और इसलिए यह समीचीन है कि भारतमाता के इस महान सपूत के लिए इस शिला पर स्मारक बने।

सारा राष्ट्र श्री रानडे एवं उनके सहयोगियों और मित्रों का, जिन्होंने इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में उनको सहयोग दिया, अत्यन्त कृतज्ञ है। मैं कामना करता हूँ कि उन सब पर जगदम्बा के आशीर्वाद की वर्षा हो और जगन्माता की कृपा से यह स्मारक उस महान् सन्देश के प्रचार-प्रसार के लिए एक सशक्त केन्द्र बन जाय जिसे स्वामी विवेकानन्द ने हमारे और संसार के लिए वसीयत के रूप में छोड़ा है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अध्यक्षीय भाषण

(तमिलनाडु के मुख्य मंत्री श्री एम. करुणानिधि द्वारा।)

भारत के महामहिम राष्ट्रपति, स्वामी वीरेश्वरानन्द, श्री एकनाथ रानडे, समिति के सदस्यगण, बहिनो और भाइयो,

यह मेरे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि आज विवेकानन्द शिला स्मारक के इस ऐतिहासिक उद्घाटन-समारोह की मैं अध्यक्षता कर रहा हूँ। कन्याकुमारी एक अति प्राचीन स्थान है। हमारे प्राचीन तमिल व्याकरण 'थोल्कप्पियम्' में 'थेनकुमारी' नामक स्थान का उल्लेख आता है जिसे तमिलनाडु का दक्षिणी सीमान्त कहा गया है।

तीन सागरों से प्रक्षालित वह भव्य शिला खड़ी है जहाँ संसार को अपना प्रकाश और ज्ञान का सन्देश देने से पूर्व स्वामी विवेकानन्द को बोध प्राप्त हुआ था।

संसार के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द का शिकागो में आयोजित सर्व-धर्म-परिषद् में गमन एक युग-निर्माणकारी बात थी। यह तमिलनाडु और इस स्थान 'कन्याकुमारी' का सौभाग्य था कि अमेरिका की इस महत्त्वपूर्ण धर्म-महासभा में, जहाँ स्वामीजी ने लोगों का मन जीत लिया था, भाग लेने सम्बन्धी उनके निर्णय में उसने उल्लेखनीय भूमिका अदा की।

'विवेकानन्द' नाम का अर्थ है वह जो असत् से सत् को पृथक् कर सके। स्वामीजी एक महान् ऋषि थे जिनकी दृष्टि सार्वभौम थी। जो भी उनके व्यक्तिगत या उनके उपदेशों के सम्पर्क में आया, वही उनकी इस दृष्टि से प्रभावित और अनुप्राणित हुआ।

जब ३० वर्ष के ये अज्ञात युवक शिकागो की धर्म-महासभा के उद्घाटन के अवसर पर सितम्बर, १८९३ ई. को लोगों के समक्ष आये तो उनके बल और सौन्दर्य ने, उनकी सौम्यता और महत्ता ने, उनकी आँखों की गहरी चमक ने तथा उनके प्रभावी व्यक्तित्व एवं अद्भुत संगीतमय कण्ठ-स्वर ने श्रोताओं को विस्मय-विमुग्ध कर दिया।

वे जहाँ भी गये, प्रथम ही रहे। यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं तथापि जो ज्योति वे प्रज्वलित कर गये वह अभी भी जल रही है। उनके उपदेशों से भारत की अन्तरात्मा जाग उठी है और राष्ट्र के एकत्व में विश्वास दृढ़तर हुआ है। उनके महान् सन्देश में मानवजाति सान्त्वना और आत्मविश्वास प्राप्त करती है।

जो स्मारक आज यहाँ खड़ा हुआ है वह केवल हमारी भौगोलिक सीमा की ही पहरेदारी नहीं करेगा बल्कि हमारी संस्कृति और परम्परा की भी रक्षा करेगा।

मैंने सुना कि यह सारा निर्माण-कार्य देवकोट्टई के श्री एस.

के आचार्य की देख-रेख में हुआ तथा उन्होंने ही इस स्मारक का सारा नक्शा बनाया था। मैं उनकी कला और शिल्प को देखकर वास्तविक ही हर्षित हुआ हूँ।

तमिलनाडु को गर्व है कि जब विवेकानन्द शिकागो गये तो वह हमारे महानुभाव सेतुपति (रामनाद के राजा) के नेतृत्व में स्वामीजी के आदेश का पालन करने को तत्पर था। और आज मैं देख रहा हूँ कि मानो समूचा सभ्य संसार विवेकानन्द को श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु तमिलनाडु के इस दक्षिणतम छोर पर समवेत हो गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने सदैव 'जनसाधारण के उन्नयन' के आदर्श को अपने सामने रखा। उनकी बहुत सी वक्तृताएँ गरीबों, पतितों और पददलितों के प्रति सहानुभूति से भरी थीं। उनके सन्देश सबके लिए मोक्ष, सामाजिक उत्थान और समानता के सन्देश थे।

मुझे इस ऐतिहासिक अवसर पर यह बताते हुए बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि तमिलनाडु की सरकार उन विचारों और सन्देशों की पूरी कायल है जिनके प्रतीक स्वामी विवेकानन्द थे। हम सब जानते हैं कि पेरारिग्नार अन्ना ने अपने जीवन और कृतियों में यह स्पष्ट रूप से दर्शाया है कि मानवजाति की मुक्ति निर्धनों और पददलितों की मुक्ति में ही निहित है। हम ईश्वर को गरीबों की मुस्कराहट में देखते हैं और इस सरकार ने गरीब के अधरों पर मुस्कराहट बिखेरने को अपना कर्तव्य मान लिया है।

स्वामी विवेकानन्द का सन्देश सबके लिए था और उनका दृष्टिकोण सार्वभौम था। मैं इस पुनीत अवसर पर यही कहूँगा कि वर्ग और जाति-भेद की भावनाएँ हम सबके हृदय से निकल जायँ और एक संगठित भारत का उदय हो जहाँ हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति से हर बात में समानता का अनुभव करे। यही, मेरे

मत में, भारत के इस महानतम सपूत के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

मैं भारत के विभिन्न भागों से एवं विदेशों से इस कार्यक्रम में सम्मिलित होने हेतु आये हुए बहिनों और भाइयों का भी अभिनन्दन करता हूँ। तमिलनाडु सदैव से मनीषियों के मिलन का जंगम स्थल रहा है। आज जब मैं अपने सामने आप सबको देख रहा हूँ तो इस बात का गर्व कर सकता हूँ कि कन्याकुमारी में एक नयी पीढ़ी का उद्भव हो रहा है।

विवेकानन्द समग्र मानवजाति के अपने हैं, इसलिए यह अत्यन्त समीचीन है कि भारत के राष्ट्रपति, जो हमारी वैभवशाली संस्कृति के विग्रह हैं, आज इस अन्तर्राष्ट्रीय स्मारक का उद्घाटन करने हेतु उपस्थित हैं।

आइए, हम उठें, जागें और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुकें मत।

वनक्कम् !

उद्घाटन भाषण

(राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि द्वारा।)

आज स्वामी विवेकानन्द की पुण्य स्मृति में बने स्मारक का उद्घाटन करने का मुझे जो अपूर्व अवसर प्रदान किया गया इस हेतु मैं विवेकानन्द शिला स्मारक समिति के सदस्यों का अत्यन्त आभारी हूँ। मुझे इस समारोह में भाग लेते गर्व का अनुभव हो रहा है क्योंकि मैं विनयपूर्वक कहूँगा कि इस कार्य के लिए जब जन-साधारण से चन्दा इकट्ठा किया जा रहा था तो मैंने भी मैसूर, दिल्ली और लखनऊ आदि नगरों में चन्दा-अभियान शुरू करके अपनी तुच्छ सेवाएँ अर्पित की थीं। इस ऐतिहासिक स्थल पर इस स्मारक का निर्माण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहीं पर स्वामी विवेकानन्द को प्रेरणा मिली थी और उन्हें उन समस्याओं का

समाधान मिला था जो उनके अन्तःकरण को पीड़ित कर रही थीं। इसी घटना के बाद उन्होंने शिकागो में भरी धर्म-महासभा में भाग लेने के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका की वह ऐतिहासिक यात्रा की थी।

आप लोगों ने आज इस समारोह का जो आयोजन किया और स्मारक का निर्माण किया, वह निस्सन्देह भारत के महानतम सपूत के प्रति हृदय की श्रद्धा व्यक्त करने की हमारी उत्कट अभिलाषा का प्रतीक है, परन्तु उन्होंने हमें जो सीख दी उसका तनिक सा अंश भी यदि हम अपने जीवन में उतार सके तो यह उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात होगी। अन्यथा, मुझे आशंका है कि यह सब जो हमने किया वह केवल एक उपहास मात्र होगा और ये स्मारक प्रस्तर-खण्डों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेंगे। हम अधिकारपूर्ण वाणी से कहते हैं कि हमारी इस मातृभूमि ने ऐसे महान् मनीषियों और ऋषियों को उत्पन्न किया है जिनके सन्देश सब प्रकार की सीमाओं के ऊपर उठे हुए थे। हम सगर्व यह अनुभव करते हैं कि वह हमारा ही देश है जिसने बुद्ध, शंकर, विवेकानन्द और गाँधी को जन्म दिया। हम उनका कीर्तिगान करके आकाश को गुँजा देते हैं। हम उनके ज्ञान और अनुभूति से भरे सन्देशों की व्याख्या और विवेचन करते हैं; पर यदि हम उस ज्ञान के यथार्थ मन्तव्य को न समझें, यदि उनके उपदेशों के अनुसार अपने आचरण को हम न सुधारें, तो हम उस महान् वसीयत के निकृष्ट उत्तराधिकारी ही साबित होंगे। अतएव यह अत्यावश्यक और हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि हम अपने हृदय को टटोलें और देखें कि सचमुच में हम कितनी मात्रा में इन महान् ऋषियों और सन्तों के उपदेशों का पालन कर रहे हैं। हमें आज दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है जो उनके द्वारा हमारे समक्ष प्रस्थापित आदर्शों को कार्यरूप में

परिणत करे। उच्च आदर्शों के प्रति मौखिक सहानुभूति हमें कोई अधिक दूर नहीं ले जा सकेगी। सहानुभूति के साथ कर्मठता चाहिए—विधायक और ठोस कर्मों का संयोग शब्दों के साथ होना चाहिए। जब तक हम अपने उपदेशों को जीवन में उतारना न सीखें और जो कुछ हम आचरण करते हैं उसी का उपदेश करना न सीखें, तब तक हम उस महान् वसीयत के सच्चे अनुयायी होने का दावा नहीं कर सकते, जिसकी कि हम बहुधा बातें करते हैं। महान् पुरुषों ने जो भी कार्य अपने हाथ में लिया उसमें उनके सफल होने का कारण यह था कि उनकी कथनी और करनी में तनिक भी अन्तर नहीं था। एक राष्ट्र की महानता का परिचय मात्र उसके मुट्ठी-भर नेताओं की देन के फलस्वरूप नहीं हुआ करता, बल्कि वहाँ की जनता के द्वारा उसकी महानता का यथार्थ परिचय होता है। अतएव यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश विश्व में अपना न्यायोचित स्थान प्राप्त करे और अपनी सभ्यता का दावा करे तो प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्तव्य पूरा करना होगा।

स्वामी विवेकानन्द की देन हमारे देश में केवल धार्मिक जागरण अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उसने अधिक रूप से लोगों के देखने और समझने के तरीके में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया। इस दृष्टि से, शंकराचार्य के बाद उनका ही स्थान आता है। उनके व्यक्तित्व में दार्शनिक, सन्त, देशभक्त, विचारक और सुधारक के अनेक आयाम समाहित थे। समस्याओं के प्रति उनका समाधानात्मक दृष्टिकोण किसी मतविशेष अथवा अन्धविश्वास पर आधारित नहीं था, वह तो विचारपूर्ण दृष्टिकोण पर दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित था। अतएव, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि लोग दूसरों की अपेक्षा उनके दृष्टिकोण को अधिक स्वीकार करते हैं। और यह केवल भारत

के निवासियों के लिए ही सत्य नहीं है, वरन् उन लोगों के लिए भी जो हिन्दू धर्म के अनुयायी नहीं हैं। स्वामीजी ने पददलितों के सामाजिक उत्थान के लिए तथा इस विशाल भू-भाग पर बसनेवाले कोटि कोटि लोगों के भीतर राष्ट्रीय चेतना के जागरण के लिए जो महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य किया, वह बहु प्रतिभा के धनी इस श्रेष्ठ मनीषी की अनुपम कर्मठता का सदैव के लिए जाज्वल्यमान प्रमाण बना रहेगा। वे केवल 'परलोक' का ताना-बाना बुननेवाले एक अकर्मण्य दार्शनिक नहीं थे अथवा ऐसे सन्त भी नहीं थे जो कर्मों के त्याग और आत्मा के चिन्तन पर जोर देते हैं वे तो जनता की आशा-आकांक्षा के प्रति सजग थे और उनकी समस्याओं से गहरे रूप से सम्बन्धित थे। वे धर्म को व्यावहारिक रूप देने की अथक चेष्टा करते रहे जिससे एक साधारण व्यक्ति भी धर्म के अर्थ को और आज के सन्दर्भ में उसके महत्त्व को समझ ले। स्वामी विवेकानन्द के सन्देश को दो ही शब्दों में निचोड़ा जा सकता है : 'मनुष्य बनो'। जैसा कि उन्होंने बताया, उनका धर्म 'मनुष्य बनानेवाला धर्म' था। विवेकानन्द के मतानुसार, 'आत्मा' परिभाषा या समझ से परे नहीं था वरन् वह साहस और शक्ति की इन्द्रियग्राही अभिव्यक्ति था। उन्होंने कहा कि 'ब्रह्म' का तात्पर्य है निर्भीकता।

मैंने बड़े छुटपन से अपने जीवन का अधिकांश भाग जन-साधारण के उत्थान की चिन्ता में बिताया है। अतएव जब मैंने स्वामी विवेकानन्द की उस अनुभूति को पढ़ा जहाँ वे लक्ष लक्ष भूखों के सामने आध्यात्मिकता को परोसना ऊटपटांग मानते हैं, तो उसका मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। स्वामीजी ने यह बताया कि लोगों की पहली आवश्यकता भोजन और रोजगार है, इसके बाद ही जनसाधारण में कोई आध्यात्मिक भावनाएँ जगायी जा सकती हैं। उन्होंने कहा, "आनेवाले पचास वर्षों के लिए

व्यर्थ के देवी-देवताओं को हमारे बीच से गायब हो जाने दो। यह हमारी जाति--हमारा राष्ट्र ही एक ऐसा देवता है जो जाग रहा है। सर्वत्र उसके हाथ हैं और सर्वत्र उसके पैर, उसके कान सब जगह हैं, उसने सब कुछ व्याप्त कर रखा है। अन्य दूसरे देवता अभी सोये हुए हैं। जब हम अपने चतुर्दिक दीखनेवाले इस देवाधिदेव की--इस विराट की उपासना नहीं कर पाते तब उन व्यर्थ के देवी-देवताओं के पीछे दौड़ने से क्या लाभ! सबसे पहली पूजा उस विराट् की होनी चाहिए, जो हमारे चारों ओर हैं। ये नर-नारी और पशु ही हमारे देवता हैं, और हमारे सर्वप्रथम उपास्य देवता हमारे अपने देशवासी हैं!"

स्वामीजी का धर्म वस्तुत: आचरण का धर्म था, क्योंकि उनका सबसे अधिक सम्बन्ध उन समस्याओं से था जो भूख, अज्ञान, गरीबी और अनिश्चितता के रूप में लोगों को पीड़ित करती है। वे ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही मानते थे जो मानवजाति के दु:ख-कष्ट की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता था। उन्होंने मनुष्य के भ्रातृभाव की धारणा को सारांश में यों व्यक्त किया, "यदि हम अपनी प्रार्थना में यह स्वीकार करते रहें कि ईश्वर हम सबका पिता है पर अपने दैनन्दिन जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न मानें, तो ऐसी प्रार्थना किस काम की?"

स्वामीजी ने आत्मनिरीक्षण की शक्ति को विकसित करने पर जोर दिया। उनका अनुभव था कि यदि मनुष्य अपने प्राप्तव्य आदर्श के प्रति सतत सजगता और स्मरण का भाव विकसित न करे, तो सारे कर्म बन्धन मात्र सिद्ध होते हैं अतएव उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को फल की चिन्ता किये बिना कर्म करना चाहिए। उन्होंने कर्म को उपासना का सर्वोच्च प्रकार माना।

मैं तो स्वामीजी की इस बात से सबसे अधिक प्रभावित हुआ

कि मनुष्य संसार में गृहस्थ का जीवन बिताते हुए भी उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में, स्वामी विवेकानन्द का यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है जिसमें वे पूछते हैं--"कौन बड़ा है--वह, जो संसार को छोड़कर संन्यासी बन जाता है, अथवा वह, जो संसार में रहकर गृहस्थ के रूप में अपने कर्तव्यों का पालन करता है?" उन्होंने सदैव यही कहा कि आदर्श संन्यासी होने की अपेक्षा आदर्श गृहस्थ होना कहीं अधिक कठिन है। सच्चा कर्ममय जीवन अगर कठोरतर नहीं तो उतना ही कठोर अवश्य है जितना कि सच्चा त्यागमय जीवन।

स्वामीजी ने बल दिया कि अनासक्ति ही पूर्ण निरहंकारिता है। दूसरों के लिए जो कर्म किया जाता है उसका प्रमुख फल है हमारी अपनी पूरी तरह शुद्धि। परोपकार में लगे रहना तथा सतत यह अनुभव करना कि हम अपने देशभाइयों की सेवा के लिए इस संसार में आये हैं, हमें अच्छा व्यक्ति बनने में तथा अपनी स्वार्थपरता को दूर करने में सहायता देगा।

स्वामी विवेकानन्द ने सदैव बुद्ध का उदाहरण एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दिया जिसने कर्मयोग के उपदेशों को पूरी तरह से व्यवहार में उतार लिया था। स्वामीजी ने बतलाया कि मात्र बुद्ध ही ऐसे मसीहा हैं जिन्होंने कहा, "मैं ईश्वर सम्बन्धी तुम्हारे विविध सिद्धान्तों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा सम्बन्धी इन सब सूक्ष्म सिद्धान्तों का विवेचन करने से क्या लाभ? भला करो और भला बनो। बस यही तुम्हें मुक्ति तक ले जायगा और जो भी सत्य है उसकी प्राप्ति करा देगा।"

स्वामी विवेकानन्द की धर्म की सार्वभौमता की धारणा अपूर्व थी। उन्होंने कहा कि विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने से एक बात सामने आती है, वह यह कि उन सबका सार एक ही है। जब वे लड़के थे, तब बड़े संशयवादी थे; इसलिए एक समय उन्हें

ऐसा लगा कि धर्म की आशा ही छोड़ देनी चाहिए। पर उन्होंने बताया कि सौभाग्य से उन्होंने ईसाई, इस्लाम, बौद्ध और अन्य धर्मों का अध्ययन किया। वे यह देखकर चकित हुए कि उनका अपना धर्म जिन आधारभूत सिद्धान्तों की शिक्षा देता है, वे ही सिद्धान्त अन्य दूसरे धर्मों की भी शिक्षा के विषय हैं।

एक शब्द में अगर उनके धर्म को व्यक्त किया जाय तो वह होगा 'मानवतावाद', जिसमें संसार के सभी धर्मों को आत्मसात् कर लिया गया है। उन्होंने इस महान् सिद्धान्त का प्रचार किया और व्यक्ति के स्वार्थशून्य बनने पर बल दिया। उन्होंने इस पर जोर दिया कि हर व्यक्ति को चरित्र, ईमानदारी और सचाई में प्रतिष्ठित होना चाहिए तथा निःस्वार्थ सेवा का कार्य करना चाहिए। उन्होंने यह उचित बात कही कि मुख्य कार्य है व्यक्तिगत चरित्र का विकास करना, और यदि व्यक्तिगत चरित्र विकसित हो गया तो समूचे राष्ट्र का चरित्र स्वाभाविक रूप से गठित हो जायगा। यह ऐसा सबक है जिसे हमें अपने जीवन के हर दिन याद रखना चाहिए। यदि हम अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने विचारों और क्रियाओं को दिशा प्रदान करनेवाले कुछ मौलिक मूल्यों और सिद्धान्तों का पालन नहीं करते, तो हम सभी प्रकार के शोषण और अभावों से मुक्त एक समाज की स्थापना की जो बात कहते हैं वह दिवास्वप्न ही सिद्ध होगी।

निस्सन्देह यह सत्य है कि मानव के दुःख और मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता की समस्या काल के प्रारम्भ से इस धरती पर विद्यमान है, तथापि हाल के दशकों में इने-गिने लोगों की समृद्धि तथा अधिकांश का दुःख बढ़ता ही गया है और इन दोनों के बीच की खाई और भी गहरी हो गयी है। इस समस्या के समाधान के लिए भले कोई शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण अपनाये या मानवतावादी अथवा नैतिक, पर हर दशा में यही बात सामने आयेगी कि

केवल हृदय और दृष्टिकोण में परिवर्तन के द्वारा ही हम एक ऐसे समाज का निर्माण करने में समर्थ हो सकते हैं जिसमें से सभी प्रकार के भेद निकाल दिये जायेंगे तथा तब ही हम सच्चे अर्थों में रामराज्य की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो सकेंगे।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवनकाल में मानव के दुःखों और असमानता के कारण को समझने की कोशिश की। उनका हल था——मनुष्य के मन को शुद्ध करना। जब उन्होंने मानव का स्वार्थ देखा और मानव-असमानता को जान-बूझकर सही निरूपित करने की चेष्टा देखी, तो वे बिना कहे न रुक सके——

'जहाँ अन्धकार की व्याख्या प्रकाश के रूप में की जाती है,
जहाँ दुःख को ही सुख मान लिया जाता है,
जहाँ रोग को आरोग्य समझ लेने का बहाना किया जाता है,
जहाँ नवजात शिशु का क्रन्दन ही उसके जीवन का परिचय है,
यहाँ ऐसे संसार में हे बुद्धिमान्! तुम कैसे सुख की आशा रखते हो?'

स्वामीजी ने इस पर जोर दिया कि सुख और दुःख दोनों ही महान् शिक्षक हैं और मनुष्य अशभ से भी उतना ही सीखता है जितना कि शुभ से। सुख और दुःख दोनों मनुष्य की आत्मा पर से गुजरते जाते हैं और उस पर विभिन्न चित्र अंकित करते जाते जाते हैं। इन सब संस्कारों का सम्मिलित प्रभाव ही 'मनुष्य का चरित्र' कहलाता है। स्वामीजी ने बताया कि शुभ और अशुभ दोनों का चरित्र के गठन में समान हाथ होता है, और कुछ परिस्थितियों में तो सुख की अपेक्षा दुःख ही बड़ा शिक्षक होता है; ठीक वैसे ही, जैसे कि सम्पत्ति की अपेक्षा विपत्ति ही हमें अधिक शिक्षा देती है।

इस प्रकार स्वामीजी ने प्रत्येक मनुष्य में निहित दिव्यता की अनुभूति पर जोर दिया। अतएव उन्होंने विभिन्न धार्मिक

साधना-पद्धतियों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने पर बल दिया, क्योंकि अन्ततोगत्वा ये समस्त पद्धतियाँ उसी एक लक्ष्य पर पहुँचानेवाली भिन्न भिन्न राहें थीं। उन्होंने अतीत के समस्त धर्मों को सत्य मानकर स्वीकार किया था और उसी तीव्रता एवं निष्ठा के साथ उन सबकी उपासना की थी। वे हिन्दू धर्म में जितना विश्वास करते थे, उतना ही ईसाई या इस्लाम या बौद्ध धर्म में। उनके लिए, और यही सबके लिए भी होना चाहिए, सभी धर्म उदारता, सत्य और सहिष्णुता के उसी एक आधार पर खड़े थे।

स्वामी विवेकानन्द ने जो रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, वह भारत एवं विश्व के लिए उनकी सबसे बड़ी देन थी। उनके द्वारा स्थापित इस रामकृष्ण मिशन ने समाज और राष्ट्र की सेवा के आदर्श को ही सदैव अपने सामने रखा है। इस मिशन के अन्तेवासी हरदम राष्ट्रीय संकटों के समय पीड़ितों की सेवा के लिए दौड़ पड़े हैं और निःस्वार्थ भाव से निराश्रितों को यथाशक्ति विविध प्रकार से सहायता पहुँचाते रहे हैं। स्वामीजी द्वारा रचित 'दरिद्रनारायण' शब्द निर्धनों और असहायों की सक्रिय सेवा का प्रतीक बन गया है।

आज जब हम नियति के सन्धिक्षण में खड़े हैं, विवेकानन्द का सन्देश इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस महान् वसीयत के बावजूद, पक्षपात, संकीर्णता और विघटन से भरी ऐसी बहुतसी शक्तियाँ देश में उभर आयी हैं जो न केवल राष्ट्र की आन्तरिक एकता के लिए बाधक सिद्ध हो रही हैं वरन् हमारी महान् सांस्कृतिक विरासत की जड़ों को कुतर डाल रही हैं। अतएव इस अवसर पर हमें यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हम इन शक्तियों का सामना करेंगे तथा स्वामी विवेकानन्द के सर्वव्यापी मानवतावाद के स्तुत्य और महान् सन्देश को अपने हृदय-सिंहासन पर पुनः अभिषिक्त करेंगे।

अन्त में, आइए, हम भारत के इस महान् सपूत के जागरण-गीत को उनके स्वर में स्वर मिलाकर उच्चारित करें—

"अब नया भारत किसान की झोपड़ी में से हल लेकर निकले; उसका उदय हो मछुए, चमार और भंगी की कुटिया में से। वह भड़भूंजे की भट्टी से निकले। वह निकले कारखानों से, दुकानों और बाजारों से। वह निकले अमराइयों और वनों से, टेकड़ियों और पर्वतों से...। उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान् निबोधत!"

जय हिन्द!

दान-सूची

(संगठन-मंत्री की रिपोर्ट पर आधारित।)

जनता से प्राप्त

१. आन्ध्रप्रदेश	..	रु. १,३८,२७२–३५
२. अन्दमान	..	रु. १५–००
३. आसाम	..	रु. ४०,१५३–००
४. बिहार	..	रु. २,०१,६०८–००
५. चण्डीगढ़	..	रु. १०,६६३–००
६. गोवा	..	रु. ९१,१०७–२५
७. गुजरात	..	रु. २,७४,५५५–०६
८. हरयाना	..	रु. २,८४,५७५–५६
९. हिमाचल प्रदेश	..	रु. ३५,९४२–२६
१०. जम्मू-कश्मीर	..	रु. ४४,५०१–००
११. केरल	..	रु. १,४४,७९९–५६
१२. मध्यप्रदेश	..	रु. ११,९०,३८८–०८
१३. महाराष्ट्र	..	रु. १४,३३,२२८–८१
१४. मैसूर	..	रु. ६,३४,४९५–३५
१५. मणिपुर	..	रु. २२२–३३

१६. नागालैण्ड	..	रु.	२०२—००
१७. नई दिल्ली	..	रु.	३,४५,१८३—७०
१८. उड़ीसा	..	रु.	३,१०१—४१
१९. पाण्डिचेरी	..	रु.	३,४८०—००
२०. पंजाब	..	रु.	२,७७,७०७—२८
अविभाजित पंजाब		रु.	३३,०६७—५०
२१. राजस्थान	..	रु.	५,८१,५८९—०१
२२. तमिलनाडु	..	रु.	३,६४,८३९—७३
२३. त्रिपुरा	..	रु.	१२,०००—००
२४. उत्तरप्रदेश	..	रु.	१४,९०,०४०—७२
२५. पश्चिम बंगाल	..	रु.	५,९९,५५२—११
	योग	रु.	८१,८५,२९०—७२

राज्य-सरकारों से प्राप्त

१. आन्ध्रप्रदेश	..	रु.	५०,०००—००
२. आसाम	..	रु.	१,००,०००—००
३. गुजरात	..	रु.	५०,०००—००
४. हरयाना	..	रु.	१,००,०००—००
५. केरल	..	रु.	१,००,०००—००
६ मध्यप्रदेश	..	रु.	१,००,०००—००
७. महाराष्ट्र	..	रु.	१,००,०००—००
८. मैसूर	..	रु	१,००,०००—००
९. नागालैण्ड	..	रु.	१५,०००—००
१०. उड़ीसा	..	रु.	१७,५००—००
११. पंजाब	..	रु.	१ ००,००० -००
१२. राजस्थान	..	रु.	५,०००—००
१३. उत्तरप्रदेश	..	रु	१,५०,०००—००
१४. पश्चिम बंगाल	..	रु.	१,००,०००—००
	योग	रु.	१०,८७,५००—००

अन्य स्थानों से प्राप्त

१. केन्द्रीय सरकार से	..	रु.	१०,००,०००–००
२. विदेशों से	..	रु.	९,६७६–८३
३. गुप्त दान	..	रु.	४,२१४–०४
	योग	रु.	१०,१३,८९०–८७

महायोग– १ करोड़ २ लाख ८६ हजार ६८१ रुपये ५९ पैसे।

तमिलनाडु सरकार ने भले ही नकद कोई अनुदान नहीं दिया है, तथापि उसने प्रकारान्तर से एक महत्त्वपूर्ण दान इस योजना को दिया है। उसने समुद्र में दो जेट्टी-प्लैटफार्म बनाने का सारा खर्च स्वयं वहन करना स्वीकार किया है—एक शिला पर तथा दूसरा तट पर। इससे समुद्र की सभी अवस्थाओं में और सभी मौसमों में इन जेट्टियों का पूरा उपयोग हो सकेगा। अब तक इस कार्य पर तमिलनाडु सरकार ३ लाख से भी अधिक रुपये खर्च कर चुकी है तथा अभी और भी १ लाख रुपया व्यय होने की सम्भावना है।

उड़ीसा सरकार ने तार द्वारा सूचना दी है कि वह शीघ्र ही ८२,५००) की राशि और भेज रही है जिससे उसका पूरा अनुदान १ लाख रुपये का हो जायगा।

> हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो, और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे।
>
> **–स्वामी विवेकानन्द**

प्रश्न——धर्मग्रन्थों में लिखा है, और साधु-सन्त भी अपने प्रवचनों में कहते हैं, कि ईश्वर-दर्शन ही मानव-जीवन का प्रयोजन है। फिर कहते हैं कि इस ईश्वर को इन्द्रियों और मन से नहीं देखा जा सकता। इसका क्या अर्थ है? क्या ईश्वर-दर्शन एक अन्धविश्वासपूर्ण अर्थहीन शब्द नहीं है?

डा. नवलभाई शाह, राजकोट

उत्तर——मनुष्य शरीर और मन की युति (body-mind-complex) है यह बात तो अवश्य आपको समझ में आती होगी, क्योंकि शरीर का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव होता है और मन का विचार के द्वारा। पर यह भी आप अवश्य मानते होंगे कि जैसे मन सतत परिवर्तनशील है, उसी प्रकार देह भी नित्य परिवर्तित हो रही है। आप चिकित्सक लोग यह बात बतलाते हैं कि देह में जो सतत परिवर्तन की क्रिया चली हुई है वह हमें आँखों से भले नहीं दिखायी देती, तथापि १२ वर्षों में देह के सारे परमाणु बदल जाते हैं। मन एक सतत बहनेवाला प्रवाह है यह तो साफ दिखायी देता ही है।

अब, अगर देह और मन हर क्षण परिवर्तनशील हों तो इस परिवर्तन का ज्ञाता कौन है ऐसा प्रश्न उठता है। स्वाभाविक ही, इस परिवर्तन का ज्ञाता देह और मन तो नहीं हो सकते। नदी

के प्रवाह के सतत परिवर्तन का ज्ञाता कौन है ? प्रवाह स्वयं अपने परिवर्तन का ज्ञाता नहीं हो सकता। नदी के दो कूल ही इस परिवर्तन के साक्षी और ज्ञाता हैं। ठीक इसी तर्क का अनुसरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि देह और मन के परिवर्तन का अनुभव करनेवाला, देह और मन से भिन्न एक ऐसा तीसरा तत्त्व है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं और जो देह-मन का साक्षी है। इसी तीसरे तत्त्व को हम ईश्वर के नाम से पुकारा करते हैं और वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। वही देह और मन में होनेवाले समस्त परिवर्तनों का हमें अनुभव कराता है और उन परिवर्तनों के बीच एकसूत्रता कायम करता है। जैसे, सिनेमा में पीछे की ओर फिल्म बड़ी तेजी से भाग रही है और उसकी सम्बद्धता तभी मालूम पड़ती है जब सामने स्थिर परदा हो। यदि परदे को भी गति दे दें तो फिल्म की सम्बद्धता नष्ट हो जायगी और उसका अर्थ हमारी समझ में न आयेगा। इसी प्रकार, भागनेवाले देह और मन के पीछे यदि यह शाश्वत स्थिर तत्त्व ईश्वर न हो तो इस भाग-दौड़ और अटूट परिवर्तन-शृंखला का कोई तात्पर्य समझ में नहीं आयेगा। तो, इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर है और वही हमारी क्रियाओं और विचारों को अर्थ प्रदान करता है। क्रियाओं और विचारों में पूर्वापर-सम्बन्ध उसी के कारण सिद्ध होते हैं।

अतएव ईश्वर-दर्शन का तात्पर्य हुआ अपने यथार्थ स्वरूप का बोध। यह बोध मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है। जैसे नदी का तट-बोध तब तक सम्भव नहीं जब तक प्रवाह के साथ एकरूपता है, प्रवाह से अलग होकर ही, यानी तट पर खड़े होकर ही तट-बोध हो सकता है, उसी प्रकार देह और मन से अलग होने पर ही यह ईश्वर बोध होता है। देह और मन से एकरूप रहते यह ईश्वर-बोध सम्भव नहीं होता। इसी अर्थ में कहा गया है

कि ईश्वर को इन्द्रियों और मन से नहीं देखा जा सकता।

इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि इस प्रकार से ईश्वर-दर्शन आखिर क्या सम्भव है ? उत्तर है—हां। उस दर्शन की विधि सांसारिक ज्ञान-प्रक्रिया से पूर्णतः भिन्न है और इस विधि को ही 'योग' के नाम से पुकारा गया है। यह ईश्वर-दर्शन की अवस्था अद्वैत की अवस्था है और यही इस जीवन का शाश्वत और एकमात्र सत्य है। इस सत्य का अनुभव ही मानव-जीवन का परम प्रयोजन है, क्योंकि इस अनुभूति से मनुष्य अपने को देह और मन से विलग जानकर उन दोनों का स्वामी हो जाता है। यही मुक्ति की अवस्था है।

●

शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें इसी तरह ठूंस दी जायें, जो आपस में लड़ने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवनभर में हजम न कर सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।

—स्वामी विवेकानन्द

आश्रम समाचार

(१ जून से ३१ अगस्त तक)

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथी विभाग--इस अवधि में एक और नया विभाग औषधालय में जोड़ा गया—वह है एक्स-रे। १ जुलाई से एक्स-रे विभाग ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। फिलहाल उसमें स्क्रीनिंग की व्यवस्था है। फोटो की व्यवस्था भी कुछ समय बाद उपलब्ध हो सकेगी।

उपर्युक्त ३ माह की अवधि में कुल १६,९०७ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें ३,८४६ रोगी नये थे। इनमें क्रानिक उदररोग से पीड़ित रोगियों की संख्या ७० थी। १,१७४ इंजेक्शन लगाये गये। ४२ दन्त-रोगियों में से ७ रोगियों के दाँत निकाले गये। माइनर सर्जिकल आपरेशन--६। आँखों के रोगी --७८। स्त्री-रोग से रुग्ण—१४६। एक्स-रे स्क्रीनिंग—२८।

होमियोपैथी विभाग—इस विभाग द्वारा ५,०४८ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया जिनमें ९९३ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

आलोच्य अवधि में ग्रन्थालय में २८१ पुस्तकों की वृद्धि हुई। ३१ अगस्त को कुल पुस्तकों की संख्या १५,२१२ थी। इस बीच ६,७०९ पुस्तकें निर्गमित हुईं। वाचनालय में पाठकों को १०२ पत्र-पत्रिकाएँ और दैनिक समाचार-पत्र उपलब्ध हुए। इस अवधि में लगभग ९,००० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया।

३. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

विद्यार्थी भवन का नया सत्र १ जुलाई से प्रारम्भ हुआ।

विद्यार्थियों के लिए विवेकानन्द अध्ययन वर्ग द्वारा ९ धार्मिक कक्षाएँ आयोजित की गयीं। १ परिसंवाद रखा गया जिसमें विद्यार्थियों ने वक्ता के रूप से भाग लिया।

४. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग— रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने १२, १९, २६ जुलाई तथा २, ९, १६, २३, ३० अगस्त को गीता पर प्रवचन दिये। इस प्रकार अब तक गीता पर ८९ प्रवचन दिये जा चुके हैं।

रविवार का सत्संग सायं ५॥ बजे होता है। इसी प्रकार प्रत्येक मंगलवार और प्रत्येक गुरुवार को सन्ध्या ७॥ बजे सत्संग होता है।

३० जुलाई और २७ अगस्त को ब्रह्मचारी निर्गुणचैतन्य ने 'रामचरितमानस' पर १ ला और २ रा प्रवचन दिया।

१६ जुलाई और १३ अगस्त को श्री सन्तोषकुमार झा ने 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' पर १७ वाँ और १८ वाँ प्रवचन दिया।

२३ जुलाई और २० अगस्त को प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा ने 'हिन्दूधर्म' पर २२ वाँ और २३ वाँ व्याख्यान दिया।

६ अगस्त को डा. अशोककुमार बोरदिया ने 'पातंजलयोगसूत्र' पर ३० वाँ प्रवचन दिया।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम: स्वातंत्र्य दिवस— १५ अगस्त को 'स्वातंत्र्य दिवस' के उपलक्ष में आश्रम में एक परिसंवाद का आयोजन किया गया था जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। परिसंवाद का विषय था—'भारत के विकास के लिए मैं किसे प्राथमिकता देना चाहता हूँ ?' इसमें ८ वक्ताओं ने भाग लिया। श्रीमती सरस्वती दुबे ने 'राजनीति' का पक्ष लेते हुए कहा कि राजनैतिक चेतना का अभाव ही देश की दुर्दशा का कारण है, अतः उन्होंने राजनैतिक चेतना को सजग करने पर बल दिया।

श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल ने 'वाणिज्य एवं उद्योग' का पक्ष लेते हुए कहा कि भारत इस क्षेत्र में पिछड़ा है इसीलिए वह सन्तोषजनक रूप से आगे नहीं बढ़ पा रहा है। प्राध्यापक उदयनारायण पाठक ने 'कृषि' के पक्ष में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि भारत कृषिप्रधान देश होकर भी दूसरे देशों से अनाज मँगाकर अपना उदर भरता है यह उसके लिए लज्जा की बात है और इसीलिए वह दूसरे क्षेत्रों में भी वांछित प्रगति नहीं कर पा रहा है। प्राध्यापक शमशद्दीन ने 'शिक्षा' के पक्ष को लेते हुए कहा कि शिक्षा का उद्देश्य संस्कार देना है। आज लोग पढ़-लिख तो रहे हैं पर उनमें संस्कार का अभाव है इसीलिए देश ऊपर उठ नहीं पा रहा है। प्राध्यापक अमिताभ लाहिड़ी ने 'आर्थिक नीति' के पक्ष में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि आर्थिक नीति की कमजोरी के कारण बड़े बड़े समृद्ध देश भी ठोकर खाते देखे गये हैं। आर्थिक सुदृढता के बिना देश के विकास की आशा नहीं की जा सकती। प्राध्यापक कनककुमार तिवारी ने 'वैदेशिक नीति' का पक्ष लिया और कहा कि आज विज्ञान के कारण दुनिया सिमट गयी है, इसलिए स्वस्थ राजनीतिक वातावरण के लिए राष्ट्रों में परस्पर सौहार्द अत्यन्त आवश्यक है। गलत वैदेशिक नीति देश का एक गलत चित्र संसार के दूसरे देशों के समक्ष रख देती है और इसका फल होता है अन्य देशों की उपेक्षा। वैदेशिक नीति अगर सही हो, तो विश्व के राष्ट्रों से समुचित सहयोग प्राप्त होता है, और इसी से देश का विकास सधता है। भिलाई इस्पात कारखाने के अभियंत्री श्री श्रीगोपाल व्यास ने 'आण्विक शस्त्रीकरण' के पक्ष में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि आज की राजनीति शक्ति की राजनीति है। आज भी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत उतनी ही चरितार्थ होती है जितनी कि वह पहले थी। दुर्बल देश का कोई मित्र नहीं होता। अतएव सर्वप्रथम देश को

आण्विक शस्त्रीकरण के द्वारा बली बनाना चाहिए जिससे उसके विकास का रास्ता प्रशस्त हो जाय। अन्त में श्री सन्तोषकुमार झा ने 'धर्म और नैतिकता' का पक्ष लेते हुए कहा कि बिना धर्म और नीति के आधार के कोई भी चीज नहीं पनप सकती। धर्म और नीति की शक्ति वास्तव में सबसे प्रबल होती है और वही सब क्षेत्रों में उन्नति का कारण होती है। देश आज धर्म और नैतिकता के ह्रास से पीड़ित है। इस ह्रास को पहले दूर करना होगा।

स्वामी आत्मानन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि ये विभिन्न पक्ष, जिन पर भिन्न भिन्न वक्ताओं ने विचार किया, एक दूसरे के परिपूरक हैं, अतएव हमको सभी क्षेत्रों में समान रूप से उन्नति करने की कोशिश करनी चाहिए। उन्होंने भारत के विकास की तुलना एक शरीर से की जिसके कि ये विभिन्न पक्ष अलग अलग अंग थे। उन्होंने राजनीति को बुद्धि कहा, वाणिज्य एवं उद्योग को हाथ, कृषि को पेट, शिक्षा को आँखें, आर्थिक नीति को पैर, वैदेशिक नीति को पीठ, आण्विक शस्त्रीकरण को भुजाएँ तथा धर्म और नैतिकता को हृदय। जैसे शरीर के ये अंग शरीर के विकास के लिए परस्पर मिलकर काम करते हैं, वैसे ही भारत-देह के विकास के लिए इन समस्त पक्षों को मिलकर काम करना चाहिए।

जन्माष्टमी

२४ अगस्त को जन्माष्टमी का पर्व आश्रम में धूमधाम से मनाया गया। इस उपलक्ष में एक परिसंवाद का आयोजन किया गया था जिसका विषय था—'धर्म की सामासिकता के जीवन्त विग्रह भगवान् श्रीकृष्ण'। इसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र पर चार दृष्टिकोणों से विचार किया गया और चार अलग अलग वक्ताओं ने यह बताया कि कैसे वे

कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग की दृष्टि से धर्म की परिपूर्णता के जीवन्त विग्रह थे। प्राध्यापिका श्रीमती निवेदिता गुप्ता ने कर्म की दृष्टि से विचार व्यक्त करते हुए कहा कि श्रीकृष्ण कर्मयोग के प्रतीक हैं, गीता में उपदिष्ट कर्मयोग उन्हीं के चरित्र की व्याख्या है। डा० नरेन्द्र देव वर्मा ने श्रीकृष्ण को भक्तियोग का मूर्तिमन्त विग्रह बताते हुए कहा कि वे भक्तजनों की आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति हैं। भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँचों भावों के वे आधार हैं। मधुरभाव कृष्ण-जीवन की विशेषता है और यहीं भगवान् कृष्ण की अलौकिकता है। ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य ने श्रीकृष्ण की ज्ञान-स्वरूपता की चर्चा करते हुए कहा कि अद्वैत ज्ञान का व्यावहारिक रूप श्रीकृष्ण के जीवन मे जिस प्रकार प्रतिफलित दीखता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। उनके चरित्र को देखने से ज्ञान का स्वरूप समक्ष में आ जाता है। प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा ने योग की दृष्टि से कृष्ण-जीवन की चर्चा की और बताया कि भगवान् कृष्ण सच्चे अर्थों में योगेश्वर थे। उनका यह योगेश्वरत्व जन्म से ही उनके जीवन में दिखायी देता है। उनका बाल्यकाल योग के चमत्कारों से भरा पड़ा है और योग की अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ उनके छुटपन की घटनाओं से पूरी तरह अभिव्यक्त हैं।

स्वामी आत्मानन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि धर्म का स्वरूप कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग के माध्यम से पूरी तरह व्यक्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण धर्म के इन चारों रूपों के जीवन्त विग्रह थे, इसीलिए उन्हें धर्म की सामासिकता यानी समग्रता का जीवन्त विग्रह कहा जाता है। तभी तो भागवत में कहा है--'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं', अर्थात् ये अन्य अवतार कलावतार हैं पर कृष्ण तो साक्षात् भगवान् ही हैं। और वास्तव में, कृष्ण-जीवन में कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग

की जिस प्रकार अपूर्व अभिव्यक्ति दीखती है, उस प्रकार अन्यत्र नहीं दिखायी देती ।

कार्यक्रम का प्रारम्भ प्राध्यापिका श्रीमती निवेदिता गुप्ता के भजन से हुआ और उसकी समाप्ति स्वामी आत्मानन्द के भजन से हुई ।

आश्रम-कार्यकर्ताओं के अन्यत्र कार्यक्रम

स्वामी आत्मानन्द- ५ जुलाई को तेरापंथी जैन समाज में स्वामीजी ने 'आध्यात्मिक विकास' विषय पर व्याख्यान दिया । १२ जुलाई को रायपुर जिला सहकारी सभा प्रबन्धक प्रशिक्षण शिबिर के समापन कार्यक्रम में प्रमुख अतिथि के रूप से भाग लेते हुए उन्होंने प्रशिक्षार्थियों को प्रमाण पत्र वितरित किये और उन्हें 'सहकारिता के मूलभूत सिद्धान्त' इस विषय पर सम्बोधित किया । १३ जुलाई को अणुव्रतनगर में, आचार्य श्री तुलसी के स्वागत में आयोजित 'नैतिक जागरण दिवस' के उपलक्ष में उन्होंने 'नैतिकता का रहस्य' इस विषय पर व्याख्यान दिया । १६ जुलाई को शान्तिनगर के राम-मन्दिर में रविशंकर विश्व-विद्यालय के कुलपति श्री बंशीलाल पांडे की अध्यक्षता में 'गीता की भूमिका' पर भाषण देते हुए मासिक 'गीता-प्रवचनमाला का प्रारम्भ किया । २९ और ३० जुलाई को स्वामीजी इन्दौर में थे । वहाँ स्थानीय रामकृष्ण आश्रम के तत्त्वावधान में उन्होंने 'नरेन्द्र से स्वामी विवेकानन्द' तथा 'श्रीरामकृष्ण देव के आविर्भाव का महत्त्व' इन दो विषयों पर व्याख्यान दिया । ३१ जुलई को भोपाल-स्थित क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के छठे स्थापना दिवस के उपलक्ष में स्वामीजी ने रविशंकर शुक्ल स्मारक व्याख्यान के अन्तर्गत 'स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी विचार' इस विषय पर भाषण दिया । उसी रात्रि तात्या टोपे नगर बालक उच्चतर माध्यमिक शाला में आयोजित सार्वजनिक

सभा को उन्होंने 'आज के युग में अध्यात्म की आवश्यकता' पर सम्बोधित किया।

९ अगस्त को भिलाई-स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल के तत्त्वावधान में गीता-प्रवचन दिया। १५ अगस्त को रायपुर के रोटरी क्लब द्वारा आयोजित 'स्वतन्त्रता-दिवस' के उपलक्ष्य में 'पन्द्रह अगस्त का आत्मचिन्तन' विषय पर व्याख्यान दिया। २४ अगस्त को सुबह रायपुर के श्वेताम्बर जैन मन्दिर में साध्वी विचक्षणश्रीजी की अध्यक्षता में प्रमुख अतिथि के रूप से जन्माष्टमी के उपलक्ष में 'भगवान् कृष्ण: हिंसक या अहिंसक ?' विषय पर विचार व्यक्त किये।

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य– १ अगस्त को रायपुर के लायन्स क्लब द्वारा आयोजित सभा को 'राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण' विषय पर सम्बोधित किया। १६ अगस्त को स्थानीय जैतूसाव मठ में 'तुलसी और रामचरितमानस' पर प्रवचन दिया।

सन्तोष कुमार झा– १५ जुलाई को रायपुर के श्वेताम्बर जैन-मन्दिर में 'जैन दर्शन' पर व्याख्यान दिया। २६ जुलाई को भिलाई के रामकृष्ण सेवा मण्डल द्वारा आयोजित सभा में 'सुख की खोज' पर प्रवचन दिया। २ अगस्त को रायपुर के मुरली-मनोहर मन्दिर में आयोजित एक परिसंवाद में भाग लेते हुए 'राष्ट्रीय एकता का धार्मिक समाधान' इस विषय पर विचार व्यक्त किये। २३ अगस्त को भिलाई में रामकृष्ण सेवा मण्डल के तत्त्वावधान में 'नारद-भक्तिसूत्र' पर प्रवचन दिया।

डा० अशोक कुमार बोरदिया– १५ जुलाई को रायपुर के श्वेताम्बर जैन-मन्दिर में 'जिनदत्त सूरी का जीवन' पर भाषण दिया।

•

रामकृष्ण मिशन समाचार

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत रामकृष्ण मठ और मिशन के अन्य केन्द्रों के संक्षिप्त प्रतिवेदन और सामयिक समाचार प्रकाशित किये जायेंगे ।)

रामकृष्ण मिशन आश्रम, खार, बम्बई-५२

(अप्रैल १९६८ से मार्च १९६९ की रिपोर्ट)

इस शाखा की स्थापना सन् १९२३ में हुई। वर्तमान में इसके द्वारा निम्नलिखित क्षेत्रों में जनता-जनार्दन की सेवा का कार्य किया जा रहा है —

धार्मिक कार्यक्रम—आश्रम के सुबृहत् मन्दिर में प्रतिदिन पूजा-आरती का आयोजन होता है । हर एकादशी को राम-नाम-संकीर्तन का गायन होता है। भगवान् श्रीरामकृष्ण, श्री माँ सारदादेवी एवं स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव आश्रम में तथा शहर के विभिन्न भागों में बड़े पैमाने पर मनाये जाते हैं। आश्रम में भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध श्री शंकराचार्य तथा ईसा मसीह की जयन्तियाँ मनायी जाती हैं। नवरात्रि में दुर्गा-पूजा के उपलक्ष में आश्रम में विविध प्रकार के धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित होते हैं। इस शाखा की ओर से आश्रम में तथा शहर के अन्य कुछ स्थानों में धार्मिक कक्षाएँ चलायी जाती हैं और व्याख्यानों का आयोजन किया जाता है। बम्बई के दादर अंचल में स्थित 'रामकृष्ण-विवेकानन्द-सेन्टर' में नियमित रूप से धार्मिक कक्षाएँ चलायी जाती हैं।

विद्यार्थी-गृह—बम्बई के विभिन्न महाविद्यालयों में पढनेवाले विद्यार्थियों के लिए आश्रम के द्वारा एक छात्रावास का संचालन किया जाता है। आलोच्य वर्ष में ८० छात्रों को इस छात्रावास में

प्रवेश दिया गया था। यह प्रयत्न किया जाता है कि गृह के विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति का परिचय प्राप्त हो सके तथा उन्हें अपने चरित्र के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण मिल सके।

विद्यार्थियों के लिए ग्रीष्म-शिबिर--इस शिबिर में महाराष्ट्र, मैसूर, दिल्ली और गुजरात प्रदेशों के कुल ३९ विद्यार्थियों ने भाग लिया। यह शिबिर ४ मई से १४ मई (१९६८) तक चला। शिबिर का उद्देश्य था विद्यार्थियों में धर्म और संस्कृति के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा उनमें नैतिकता का जागरण लाना।

शिवानन्द ग्रन्थालय एवं निःशुल्क वाचनालय—भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रमुख शिष्य स्वामी शिवानन्दजी ने इस आश्रम के भवन का १९२५ सन् में शिलान्यास किया था और सन् १९२६ में उन्हीं के करकमलों से आश्रम के मुख्य भवन का उद्घाटन हुआ था। उन्हीं की पावन स्मृति में प्रारम्भ किये गये आश्रम के इस सार्वजनिक ग्रन्थालय में अब दर्शन, साहित्य, विज्ञान, इतिहास, नीतिशास्त्र इत्यादि विषयों पर कुल १५,९९६ ग्रन्थ हैं। आलोच्य वर्ष में कुल १३,६२६ पुस्तकें निर्गमित की गयीं। इसके अन्तर्गत एक निःशुल्क वाचनालय भी है जिसमें अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं बँगला भाषाओं में आनेवाले समाचार-पत्र एवं नियतकालीन पत्रिकाओं की संख्या १३६ है। वाचनालय का लाभ लोग बड़ी संख्या में प्रतिदिन उठाया करते हैं।

धर्मार्थ औषधालय--आश्रम के धर्मार्थ औषधालय में ऐलोपैथी एवं होमियोपैथी इन दोनों पद्धतियों से चिकित्सा की जाती है। औषधालय में सामान्य औषधोपचार, दन्त विभाग, नेत्र-विभाग, एक्स-रे उपचार, पैथालॉजिकल प्रयोगशाला आदि कई विभाग हैं और प्रयोजन होने पर रोगियों को वहीं रखकर उनकी

शुश्रूषा करने के लिए एक रुग्णालय (इनडोर विभाग) भी है। विवेच्य अवधि में ऐलोपैथी विभाग के द्वारा ७०,८०८ रोगियों की तथा होमियोपैथी विभाग द्वारा १,०६,८२७ रोगियों की चिकित्सा की गयी। दन्त-विभाग में ७२१ और नेत्र-विभाग में ९८१ रोगियों का उपचार किया गया। ७९७ रोगियों की एक्स-परीक्षा की गयी और प्रयोगशाला में रक्त आदि के २,१८ नमूनों की जाँच की गयी। रुग्णालय में प्रवेश दिये गये रोगियों में से ४१० रोगियों पर शल्योपचार किया गया।

आर्त सेवा कार्य--इस शाखा की ओर से दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प आदि संकटों से पीड़ित लोगों की बड़े पैमाने पर सहायता की जाती है।

प्रहले आदेश पालन करना सीखो। इन सब पाश्चात्य जातियों में स्वाधीनता का प्रभाव जैसा प्रबल है, आदेश पालन करने का भाव भी वैसा ही प्रबल है। हम सभी अपने आपको बड़ा समझते हैं, इससे कोई काम नहीं बनता। महान् उद्यम, महान् साहस, महावीर्य और सबसे पहले आज्ञापालन—ये सब गुण व्यक्तिगत या जातिगत उन्नति के लिए एकमात्र उपाय हैं। और ये गुण हममें है ही नहीं।

स्वामी विवेकानन्द